परम सखा मृत्यु

काका कालेलकर

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

परमसखा
मृत्यु

जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण
देने वाले प्रेरक विचार
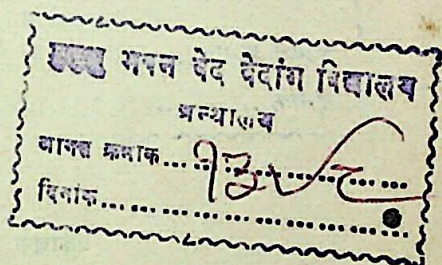
काकासाहेब कालेलकर

१९७९

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नयी दिल्ली

परिवर्द्धित संस्करण : १९७९
मूल्य : छः रुपया

मुद्रक
युवा मुद्रण
७, न्यू वजीरपुर इण्डस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स, दिल्ली-११००५२

अत्यंन्त आदर और नम्रता के साथ
युवा नचिकेता को
जिसने स्वयं मृत्यु के मुंह से उसका रहस्य
मांग लिया और पाया भी

प्रकाशकीय

सामान्यतया हम मृत्यु का कभी विचार नहीं करते। इस प्रकार जीते हैं, मानो कभी मरने वाले नहीं हैं, या यों मानकर जीते हैं कि मरना तो है, किन्तु इतनी जल्दी नहीं।

परिणाम यह होता है कि हमारा जीवन आयु की दृष्टि से कितना ही लम्बा क्यों न हो, जीवन की दृष्टि से छिछला ही रहता है।

ऐसे छिछले जीवन में अचानक एक दिन मृत्यु आकर हमारा दरवाजा खटखटाने लगती है और उसे देखकर हम चौंक उठते हैं। पूछते हैं, "यह क्या हुआ? हमें इतनी जल्दी तो जाना नहीं था! अभी कितना ही काम करने को बाकी है। हम अभी तक ठीक तरह से जी भी नहीं पाये हैं और अचानक यह कहाँ से आ टपकी?"

किन्तु एक बार दरवाजा खटखटाने वाली मृत्यु कभी खाली हाथ वापस नहीं लौटती। वह तो हमें लेकर जाने के लिए ही आती है। जब इस बात की गहरी प्रतीति हमें होती है कि अब हमें जाना ही होगा, तभी हम सोचने लगते हैं—"यह मृत्यु क्या है! यह कहाँ से आती है? आती ही क्यों है? वह अब हमें कहाँ ले जायेगी? वहाँ क्या होगा?"

और ठीक उत्तर हम नहीं पाते। बस, मामला खत्म। यह समझकर हम मृत्यु से डरने लगते हैं।

असल में जीवन अगर उत्कटता से हमें जीना हो, तो मृत्यु का खयाल हमेशा ही जागृत रहना चाहिए। हमारे जन्म के साथ अबतक एक निष्ठावान साथी की तरह अगर कोई कदम-से-कदम मिलाकर चलती है, तो वह मृत्यु ही है। वह कभी हमारा साथ नहीं छोड़ती। इसलिए उसका अखड स्मरण करके ही हमें जीना चाहिए। इस तरह की जागृति रखनी चाहिए, मानो हमारा आज का दिन आखिरी दिन हो सकता है। कभी-कभी वह आखिरी होता भी है। मृत्यु के सान्निध्य में जीने से ही हम उत्कट जीवन जी सकते हैं। उत्कट जीवन ही सच्चा

जीवन है। जीवन जीने का यही तरीका हो सकता है।

काकासाहेब ने इस पुस्तक में हमें इसी बात को समझाया है। वे उन इने-गिने भारतीय मनीषियों में से हैं, जिन्होंने जीवन के करीब-करीब सभी पहलुओं का गहराई से चिंतन किया है। मृत्यु के बारे में उनका चिंतन तो अपने ढंग का मौलिक है। मृत्यु उनका 'परम सखा' है। काफी परिचित, काफी घनिष्ट सखा होने के कारण उसका स्वरूप काकासाहेब के लिए हमेशा नित्य नूतन मालूम हुआ लगता है। सन १९३२ से लेकर ६७ तक के काल में जब-जब उन्होंने अपने इस सखा के बारे में कुछ कहा है, नया ही कहा है। इसीलिए उनकी यह पुस्तक विशेष महत्व रखती है। यह कोई प्रतिभावान कवि का कल्पना-विलास नहीं है, न किसी दार्शनिक का तत्त्व-चिंतन मात्र है। यह तो मृत्यु जिसका मित्र है, उसका लिखा हुआ अपने मित्र का चरित्र है।

संभवतः विश्व-साहित्य में इस तरह की दूसरी कोई भी पुस्तक नहीं है। मौलिक विचारों के साथ-साथ काकासाहेब को भाषा-शैली पर असामान्य अधिकार है।

आज से कुछ वर्ष पहले इस पुस्तक का पहला संस्करण हुआ था। पाठकों ने उसे बहुत पसंद किया। पहला संस्करण जल्दी ही समाप्त हो गया, लेकिन अनेक कारणों से इसका पुनर्मुद्रण तत्काल न हो सका।

अब बंधुवर रवीन्द्र केलेकर ने पुस्तक को परिवर्द्धित कर दिया है। उसमें से दो लेख निकाल दिये हैं और दो लेखों को काट-छांट कर एक नया लेख बना दिया है, चार लेखों को परिशिष्ट में डाल दिया है। आठ नये लेख जोड़ दिये हैं, जिनमें से दो किसी भी हिन्दी पुस्तक में अब-तक नहीं आये हैं।

इस प्रकार उन्होंने पुस्तक को अद्यतन बना दिया है। हम उनके आभारी हैं।

हमें विश्वास है कि पुस्तक सभी क्षेत्रों में चाव से पढ़ी जायगी।

—मंत्री

भूमिका

जो जीता है, उसे 'जीव' कहते हैं, 'जन्तु' भी कहते हैं। सांस लेने का प्राण जिसमें है, उसे 'प्राणी' कहते हैं। जो शरीर धारण करता है, देह में रहता है, उसे 'देही' कहते हैं और जिसे मरना है, जो मरण को टाल नहीं सकता, उसे 'मर्त्य' कहते हैं। कितने सच्चे और अच्छे शब्द हैं ये !

सब प्राणियों के लिए ये शब्द लागू हैं। मनुष्य भी प्राणी है, इसलिए ये शब्द उसको भी लागू हैं। लेकिन मनुष्य में एक विशेष शक्ति है सोचने की, विचार करने की, मनन करने की। इसलिए उसे मनुष्य भी कहते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है। (मननात् मनुष्यः)। वेदों में मनन करने वाले मनुष्य को 'मन्तु' कहा है। जन्तु-मन्तु की जोड़ी अच्छी जमती है। कैसे जीना, इसपर मनन करके मनुष्य ने जीवन के अनेक शास्त्र रचे और अपने लिए जीवनयोग तैयार किया। सांस लेना है तो सांस कैसे लें, उससे लाभ कैसे उठावें, इसका भी उसने शास्त्र बनाया, जिसे प्राणायाम कहते हैं। हठयोग, राजयोग, ध्यानयोग आदि में प्राणायाम का महत्व बताया है। मनुष्य खा-पीकर जीता है, इसलिए आबोहवा कैसी हो, कौन-सा आहार अच्छा है, कब खाना, कैसे खाना, कितना खाना, इसका भी एक बड़ा शास्त्र मनुष्य ने रचा है। देह धारण करना है तो उसके बारे में भी तरह-तरह के शास्त्र उसने बनाये हैं। मनुष्य ने मनन करके, प्रत्यक्ष प्रयोग करके और प्राप्त अनुभव का चिन्तन करके ज्ञान के कितने ही क्षेत्र बढ़ाये हैं और जीवन की सफलता पाई है।

जीने के साथ मरण तो आता ही है। जिस तरह वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम, दिन की प्रवृत्ति के अंत में नींद, नाटक समाप्त होते ही पर्दा, यात्रा खत्म होते ही भगवान के दर्शन, उसी तरह जीवन के अन्त में

मरण पाने का सौभाग्य सब प्राणियों के लिए रखा गया है। ऐसे अवश्यं-भावी मरण का, जीवन को कृतार्थ करने वाले देहान्त या प्राणान्त का चिन्तन मनुष्य न करे, मरण को स्वीकार करने की और उससे लाभ उठाने की तरकीबें मनुष्य न सोचे तो कहना पड़ेगा कि वह इन्सान नहीं, हैवान है। किसी ने कहा है कि यदि मरण नहीं होता तो मनुष्य को तत्वज्ञान की भूख भी नहीं होती। मरण एक ऐसी अद्‌भुत पहेली है कि उसके कारण जीवन का अर्थ करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है। दुनिया के अनेक मनीषियों ने जीवन का चिन्तन करने का और मरण का रहस्य ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। मरण क्या है और मरण के उस पार क्या है, इन सवालों के जवाब ढूंढ़ने वाले हमारे पूर्वजों में एक युवा था, नचिकेता। उसने देव, मानव और दानव तीनों का चिन्तन सुन लिया। इससे उसको सन्तोष नहीं हुआ। तब वह सीधा मरण के घर पर ही गया और तीन दिन की भूख-हड़ताल करके उसने स्वयं मौत से, यमराज से, उसका रहस्य आग्रहपूर्वक, दृढ़तापूर्वक, मांग लिया। यमराज ने प्रसन्न होकर उसे सब समझाया। इसलिए मैंने यह किताब अत्यन्त आदर और नम्रता के साथ उस नचिकेता को ही अर्पण की है।

बच्चों को हम कैसे नहाना, कैसे खाना, कैसे सोना, कैसे लिखना-पढ़ना, हिसाब करना, कैसे घूमना आदि सब विद्याएं सिखाते हैं। लड़के-लड़कियों के वयस्क होने पर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध क्या है, शादी का अर्थ क्या है, गृहस्थाश्रम कैसा चलाना, यह भी उन्हें सिखाते हैं। दिन-पर-दिन अनेक विद्याएं बढ़ती जाती हैं और मनुष्य अधिकाधिक सयाना बनता जाता है। केवल एक विषय का ज्ञान हम उसे नहीं कराते हैं, जो अत्यन्त जरूरी है। वह है मृत्यु के बारे में। अगर कोई कभी बीमार पड़ा ही नहीं तो आरोग्य के शास्त्र के बिना उसका काम शायद चल सकता है, लेकिन मरण तो हरएक प्राणी के लिए है ही। मरण किसी का भी टला नहीं है। लोगों को आज हम मरण के बारे में क्या सिखाते हैं? कुछ नहीं। हां, मरण से डरना और मरण से भागना हम जरूर

सिखाते हैं। लेकिन पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, सब-के-सब बिना सिखाये ही मरण से डरते हैं, मरण से भागते हैं और लाचारी से मरण के वश होते हैं।

मननशील मनुष्य को इससे कुछ अधिक चिंतन-मनन करना चाहिए। जिन लोगों ने मरण के प्रयोग किये हैं, उनके अनुभव भी समझने चाहिए। हमने देखा कि मरण सचमुच 'परम सखा' है। जीवन को कृतार्थ करने के लिए मरण आवश्यक है। एक दिन मरण की बात समझाते हुए आवेश में आकर मैंने कहा था, "प्राणियों के लिए ईश्वर की सबसे श्रेष्ठ देन या वरदान कोई हो, खुदा की अच्छी-से-अच्छी नियामत कोई हो, तो वह मरण ही है। अगर भगवान हमसे मरण छीन लेगा तो उसके खिलाफ सत्याग्रह करके मैं आत्महत्या ही करूंगा।" अगर सतत जीना है तो बीच-बीच में मरण की सहूलियत होनी ही चाहिए। हिंदी भाषा के दो शब्दों के साम्य से लाभ उठाकर मैंने कहा था, "मीच हमारा अच्छे-से-अच्छा मीत है।" इसीका आवश्यक मनन पाठक इस किताब में पायंगे।

सवाल उठता है कि इतने अच्छे कल्याणकारी मृत्यु को भगवान ने इतना दुःखमय और भयानक क्यों बनाया? मैं कहूंगा कि भगवान ने मृत्यु को दुःखमय बनाया है सही, लेकिन उसे उसने भयानक नहीं बनाया। यह मनुष्य ने किया है। मृत्यु की वह भयानकता दूर करना, यही इस पुस्तक की प्रेरणा है।

प्राणियों के लिए और खास करके मनुष्य के लिए जीवन और मरण दोनों एक-से महत्व के हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इसी तरह सुख और दुःख भी मनुष्य के लिए एक-से महत्व के हैं। जीवन के लिए दोनों जरूरी हैं। अकेले सुख में जीवन विकृत हो जायगा। अकेले दुःख से भी जीवन असह्य और विकृत हो जायगा। गीता कहती है, "सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय तीनों को समान समझना।" मैं समझता हूं कि गीता का यह बोध मनुष्य

के लिए अत्यन्त आवश्यक और हितकर है।

इन दोनों में सुख है केवल पोषक। दुःख है बोधक। सुख जीवन-रूपी महासागर पर तैरना सिखाता है, दुःख उस महासागर में डुबकी लगाकर अन्दर से महान तत्वरूपी मोती लाने की कला और हिम्मत देता है। किसी मनीषी ने जब यह कहा, "सर्वं दुःख मनीषिणां," तब उसने दुःख से भागना नहीं सिखाया। मैंने तो माना है कि सुख मनुष्य को छिछला बना सकता है, मोह में फंसा सकता है। जीवन को समझने की बुद्धि और जीवन जीने की हिम्मत दुःख से ही हमें मिलती है। इस वास्ते मैंने कहा, "दुःखं सत्यं, सुखं माया; दुःखं जन्तोः परं धनम्।"

मरण-जैसे परम सखा के साथ अगर सुख जोड़ दिया जाता तो मरण की प्रतिष्ठा कुछ न रहती। महात्मा मरण के साथ महात्मा दुःख को ही जोड़ देना उचित है।

जो हो, मरण का चिंतन पाठकों के सामने पेश करना मैंने मनुष्य-जीवन की उत्तम सेवा मानी है। सन् १९६२ से लेकर सन् १९६७ तक के काल में लिखे गए लेखों का यह संग्रह है। इसलिए इसमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति का होना स्वाभाविक है। किन्तु मैंने यह पुनरुक्ति रहने दी है, ताकि मैं मृत्यु विषयक अपनी बात पाठकों को भारपूर्वक बार-बार समझा सकूं। मैंने जो यहां दिया है, उसमें मौलिकता का दावा भी है।

मैंने अपने इस भव का जीवनकाल ज्यादातर समाप्त कर लिया है। जो थोड़ा बचा है, उसके बारे में मुझे चिंता नहीं है। जिस चिंतन ने मुझे सन्तोष दिया है, उसका उपभोग इष्टजनों के साथ करना जरूरी था।

—काका कालेलकर

अनुक्रम

परिशिष्ट

□□

परमसखा

मृत्यु

१ / मंगल मंदिर खोलो

जीवन और मरण विराट जीवन के ही दो पहलू हैं। परमात्मा की यह दो विभूतियां हैं। इनमें जीवन मनुष्य की कठोर कसौटी है, जब कि मरण उस क्षमावान परम कारुणिक की दया है। मृत्यु के समय मनुष्य को जो वेदनाएँ होती हैं, वे मृत्यु के कारण नहीं होतीं। मृत्यु में तो नींद की जितनी ही मिठास और मधुरता है। जो वेदनाएँ होती हैं, जीवन के कारण होती हैं। जीवन अपना कब्जा छोड़ना नहीं चाहता। इस लोभ की खींचातानी में वेदना पैदा होती है। मृत्यु के पास धीरज है। वह जीवन को जो चाहे करवा देती है। जीवन जब हार जाता है और अपना आग्रह छोड़ देता है तभी मरण अपने पंख फैलाकर प्राणी को अपनी छत्रछाया में ले लेता है।

मनुष्य जीवन को सुखस्वरूप मानता है और मरण की ओर महासंकटरूप के रूप में देखता है। किन्तु प्रकृति में जिस तरह दिन के बाद रात्रि के लिए स्थान है, उसकी उपयोगिता और सौन्दर्य ही नहीं, वल्कि उस का वैभव भी है, उसी तरह मरण में भी उपयोगिता, सौंदर्य और वैभव है। मरण की उपयोगिता शायद हमारी समझ में तुरन्त न आये; किन्तु उसकी भव्यता और उसकी उपकारक सुन्दरता तो सहज ध्यान में आनी ही चाहिए। अकुलाये हुए मनुष्य के ध्यान में वह नहीं आती, यह मरण का दोष नहीं है।

थका-मांदा मजदूर विश्राम चाहता है। खेल-कूदकर थका हुआ बालक नींद चाहता है। पका हुआ फल जमीन में अपने आपको गाड़कर नयी यात्रा शुरू करने के लिए वृक्षमाता से

अपना संबंध छोड़ देता है। उसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह अपना जीवन पूरा करके अनासक्त ढंग से उसका त्याग करना सीखे और नये मौके की प्राप्ति के परवाना-स्वरूप मरण का स्वागत करे।

मनुष्य के पास अगर प्रसन्नता हो तो उसे जीना भी आयेगा और शांति और शोभा के साथ जीवन पूरा करना भी आयेगा, और बहादुरी के परिणाम-स्वरूप मनुष्य सम्मान प्राप्त करने की तैयारी रखता है, उसी तरह जीवन के अंत में मरण की कृतार्थता पाने के लिए तैयार रहेगा।

मरण सचमुच मुक्ति रूप है। वासना से हम उसे क्लेशमय और कलुषित अगर न करें तो यह सहज ध्यान में आयेगा कि वह परम मित्र भी है। मित्र हो या बुजुर्ग हो, दयामय तो वह है ही। उसके मंदिर के द्वार मंगलमय हैं। कई लोग मरण की तुलना गहरे अंधेरे के साथ करते हैं और जीवन को प्रकाश-मय मानते हैं। दिन के सफेद अंधेरे और रात के काले उजाले के बारे में मैंने कहीं लिखा है, वह यहां भी लागू होता है।

जंगल पार करके हम खुले मैदान में आ पहुंचते हैं, तब जिस तरह उत्साह भरा आनन्द हमें होता है, उसी तरह जीवन-वन पार करने के बाद और तिमिर मार्ग बिताने के बाद जो ज्योतिलोक हम पाते हैं, उसके प्रकाश में हमें भगवान मृत्यु के हृदय में धूमधाम के साथ स्थान प्राप्त करना चाहिए। विदेश में पुरुषार्थ करने वाले यात्री को जिस तरह स्वदेश का अखंड स्मरण रहता है और स्वदेश का अखंड स्मरण वह किया करता है, उसी तरह मनुष्य अगर मरण-विरह में ही जीवन पूरा करे तो अंत में उसकी प्यास बुझने ही वाली है और भगवान मरण की ओर से मिले हुए अमृत-रस से वह ओत-प्रोत होने ही वाला है, क्योंकि मृत्यु जीवन का पूर्णविराम नहीं है। वह तो

अमरलोक में प्रवेश करने का द्वार है। मरण का स्मरण रखकर अलिप्तता के साथ जो जी सका, उसी को अमरलोक का अधिकार प्राप्त होता है, बाकी के जो हिचकिचाहट के साथ मरण के यहां जाते हैं, उन्हें मरण पामर मानता है और वहाँ से धकेल कर उन्हें वार-बार जीवन-क्षेत्र में वापस भेज देता है।

मरण को जो जानते हैं और जी-जान से चाहते हैं, वही जीवन का सही रास्ता और सही आनन्द पाते हैं।

२ / मीच या मीत ?

हम चाहते हैं, उसके पहले ही मरण आता है। इसलिए हम मरण का शोक करते हैं। असल में मरण तो ईश्वर का उत्तम वरदान है। मरण अगर न हो तो न मालूम हमारी क्या दशा हो जाती। अनंतकाल तक जीते ही रहना...जीते ही रहना, इसमें हम हैरान हो जाते। कहीं-न-कहीं तो जीवन का अंत आना ही चाहिए। लोककथा के एक रसिक राजा ने एक ऐसी कथा माँगी, जो कभी पूरी ही न हो। चतुर कथाकार ने पहाड़ के जितने बड़े एक धान्य के कोठार में एक छोटा-सा सूराख रक्खा और टिड्डियों का एक दल आया, जिसे कोठार से अनाज लूटने को कहा। और वह कथा सुनाने लगा, एक टिड्डी आयी, और एक दाना ले गयी। दूसरी टिड्डी आयी, उसी सूराख से भीतर गयी और वह भी एक दाना ले गई। फिर नयी टिड्डी आयी, वह भी एक दाना ले गयी।" टिड्डियां आती ही रहीं और एक-एक दाना लेकर जाती रहीं। राजा ने छः महीनों तक यह सुना और अन्त में अकुलाकर पूछा, "अब कितनी टिड्डियाँ बाकी रही हैं ?" कथाकार तो बदला लेने के लिए ही बैठा था। उसने कहा, "महाराज, अभी तो एक

बित्ता जितनी भी जगह खाली नहीं हुई है। और अनाज का तो पूरा पहाड़ भरा हुआ है।" राजा ने धीरज के साथ और छः महीने तक कथा सुनी। फिर उसे चक्कर आने लगे। टिड्डियाँ और दाने, टिड्डियां और दाने, उसकी आंखों के सामने नाचने लगे। स्वप्न में भी टिड्डियां और दाने दिखाई देने लगे। अंत में समझौते के अनुसार उसने अपना पूरा राज्य कथाकार को दे दिया और कथा सुनने की जिम्मेदारी से छुटकारा पाया। कथा तो बन्द हुई, किन्तु दिमाग में टिड्डी और दाने की गूंज काफी समय तक चलती रही। अनंतकाल तक जीने की नौबत अगर हम पर आ पड़े तो हम भी उस राजा की तरह अपना सर्वस्व देकर मौत मांग लेंगे।

दूसरी ओर अनंतकाल तक अगर रुक जाना पड़े, एक बार मरने के बाद हमेशा के लिए हम मर जायें, फिर से कभी जीने का मौका ही न मिले, तो इस तरह के मोक्ष से भी हम कम अकुलाहट महसूस नहीं करेंगे। काले पानी की सजा भुगतने वाला कैदी भी पंद्रह-बीस सालों के बाद वापस लौट सकता है। मोक्ष पाये हुए मनुष्य को इतनी भी राहत न मिले तो वह कितनी बड़ी सजा होगी! किस पाप के लिए मनुष्य इतनी बड़ी सजा स्वीकार करे? इस तरह की दलील करके चंद लोग कहते हैं कि मोक्ष अगर कुछ समय के लिए ही हो तो ठीक है। हजार वर्ष के लिए हो, लाख वर्ष के लिए हो; किन्तु उसकी कुछ-न-कुछ मियाद अवश्य होनी चाहिए। उसके बाद हमारे इस प्यारे मृत्यु लोक में वापस लौट आने का कुछ प्रबंध होना चाहिए। शरीर छूटने के बाद मुक्त जीवन कितना ठोस होता है, कितना सर्वतंत्र स्वतंत्र होता है, आदि सुन्दर वर्णन भले ही वेदांती लोग करें; किन्तु इस स्थिति की तो हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं उनके लिए तो मरण और नींद के बीच तत्त्वतः कोई अंतर नहीं है। कोई थका हुआ आदमी अगर सोना चाहे तो हम हाहाकार नहीं करते, बल्कि उसके सोने की तैयारी और उसकी नींद में कोई खलल न पड़े, इसका प्रबंध कर देते हैं। मरणोत्तर जीवन के बारे में अगर इतना ही विश्वास होता तो मरने वाले की स्थिति से बगैर अकुलाये हम उसके छुटकारे की सब तैयारी भी कर देते। थके-माँदे होते हुए भी जो काम करते हैं, उन मित्रों से जिस प्रकार हम सोने का आग्रह करते हैं, उसी प्रकार मरने के अधिकारी लोगों को भी हम अधिक जीने की तकलीफ न उठाने की सिफारिश करते हैं। मरण का डर और जीने का हौसला, असल में, मरणोत्तर स्थिति के बारे में हमारे अज्ञान के कारण है। पुनर्जीवन के बारे में अपनी श्रद्धा की कसौटी है।

किसी ने कहा है कि मनुष्य को अगर पहले से ही मालूम हो कि मरने में एक प्रकार का आनंद है, तो सब लोग मरने के लिए ही दौड़ेंगे। असल में मरने में दुःख नहीं है। जिसको हम मरण का दुःख कहते हैं, वह तो कष्ट के साथ जीने का दुःख है। वह जब असह्य हो जाता है तब मरण मित्र की तरह आकर हमारा उससे छुटकारा करता है। दुःख जीवन का होता है, मरण का नहीं।

और जीवन तो खर्च करने के लिए है। उपयोग के लिए है। सत्कार्य और महत्कार्य में अगर हम जीवन का उपयोग न करें तो जीने में स्वाद ही क्या रहेगा? नासमझ प्राणियों को बुद्धि पुरअसर जीना नहीं आता। इसलिए प्रकृति ने उनको जीने का हौसला दिया है। यह जिजीविषा सिखानी नहीं पड़ती। प्राणिमात्र में वह होती ही है। प्राणिमात्र का शिकार करना जिसका स्वभाव है, वह मरण हमारे पीछे दौड़ता आये

और हम शिकारी कुत्ते से डरे हुए हिरन या खरगोश की तरह आगे-आगे दौड़ते रहें, यह मनुष्य की प्रतिष्ठा को कैसे शोभा दे सकता है? मरण आने पर हमारे पास उसके स्वागत के लिए फूलों का हार तैयार होना ही चाहिए। जीवन का कर्तव्य समझने वाले मनुष्य के लिए ही मनु भगवान ने कहा है :

नाभिनन्देत, नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत, निर्देशं भृतको यथा ।।

३ / मृत्यु का तर्पण : १

मरण इष्ट है या अनिष्ट

सब कोई कहेंगे कि मरण सर्वथा अनिष्ट है। लेकिन क्या यह आवाज सही है? मनुष्य को अपना और अपने आत्मीयों का मरण भले ही अनिष्ट मालूम होता हो, लेकिन उसे दूसरे लोगों के मरने पर विशेष एतराज नहीं दीख पड़ता।

व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो मनुष्य आहार के लिए, शिकार के लिए या मनोविनोद के लिए जिन पशु-पक्षियों को मारता है, उनका मरण तो उसे इष्ट ही मालूम होता है। जब हम कोई सड़ी चीज सुखाने के लिए धूप में रख देते हैं, तब हम उसमें पैदा हुए जन्तुओं का मरण ही चाहते हैं। जब हम पीने का पानी उबालते हैं, तब हम उसके अंदर रहने वाले असंख्य जन्तुओं का मरण ही चाहते हैं। डाक्टर लोग जब जन्तुनाशक (एंटीसैप्टिक) दवाओं का उपभोग करते हैं, तब वे पांच-दस या सौ-पचास ही नहीं, बल्कि कोट्यावधि जन्तुओं का संहार चाहते हैं।

इस तरह, यदि देखा जाय तो हम मरण कदम-कदम पर चाहते हैं, मरण की सहायता लेते हैं और मरण के लिए पूरा

मसाला तैयार करके रखते हैं।

अब मनुष्य मनुष्य के बीच के व्यवहार का विचार करें। आजकल के महायुद्धों में क्या चल रहा है? जर्मन लोग लन्दन-वासियों का संहार करना चाहते हैं और ब्रिटिश बौम्बर जर्मनों का सत्यानाश करने पर खुश हो जाते हैं। यह कौन कह सकता है कि मनुष्य का मरण भी सब लोग अनिष्ट ही मानते हैं? जब कोई न्यायाधीश किसी खूनी शख्स को फाँसी की सजा देना चाहता है, तब वह खूनी व्यक्ति और वह न्यायाधीश, दोनों मृत्यु के ही प्रेमी होते हैं। खूनी व्यक्ति ने अपने दुश्मन का मरण चाहा, इसलिए न्यायाधीश ने समाज का प्रतिनिधि बन कर खूनी का मरण चाहा। एक का कृत्य समाज-द्रोह माना गया, दूसरे का समाज-सेवा। इनमें फर्क होते हुए भी दोनों मृत्यु के ही खैरख्वाह साबित हुए, इसमें शक नहीं है।

और क्या मनुष्य अपनी मृत्यु भी हमेशा अनिष्ट ही समझता है? निराश होकर आत्महत्या करने के लिए जो तैयार हुआ है, ऐसे दुर्दैवी आदमी से जाकर पूछिये कि क्या वह मृत्यु को अनिष्ट समझता है? और उन बूढ़े-बूढ़ियों को भी पूछ लीजिये, जिनके भोगेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों ने तो उनसे रुखसत ले ली है, लेकिन लोभ और प्राण जिन्हें नहीं छोड़ रहे हैं, वे भी कहेंगे कि हम दिन-रात भगवान से यही प्रार्थना कर रहे हैं कि वह हमें मौत का आराम प्रदान करें। और प्रेमी जीव भी कई दफा यही चाहते हैं कि उनके प्रियतम की अन्तिम पीड़ा दूर करने के लिए अगर मरण ही एकमात्र चारा हो, तो उस निष्ठावान मित्र को भेजने में भगवान क्षण की भी देरी न करें।

महादजी शिन्दे के एक सरदार को दुश्मनों ने तोप के सामने खड़ा करके उड़ा दिया। छिन्न-भिन्न होकर वह किले

की दीवार के नीचे गिर पड़ा। लेकिन उसके प्राण नहीं निकले। असह्य पीड़ा से व्याकुल होकर वह इसका इन्तजार कर रहा था कि किसी दयालु राहगीर की मदद से वह मरण का साक्षात्कार कर ले। जब ऐसा एक पथिक मित्र मिल गया, तब उसने स्वाभिमान पूर्वक मरण-दान की याचना की।

कायर होकर जीवन-दान मांगने वाले बहुत होते हैं, लेकिन मस्त होकर मरण-दान की याचना करने वाले भी कभी-कभी निकल आते हैं।

अगर दुनिया में मरण न होता तो नये-नये प्राणी जन्म भी न लेते। जन्म और मरण एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। मरण है, इसीलिए दुनिया का जमा-खर्च ठीक रहता है। मरण से कोई नफरत न करे। वह सबका परम मित्र है, वह सर्व-समर्थ है, उसने कभी किसी को निराश नहीं किया है।

आश्चर्य की बात यह है कि हरएक प्राणी मरणशील होते हुए भी मरण को कोई ठीक रूप से पहचानता नहीं। सामान्य लोग मरण से इतने डरते रहते हैं कि असल में मरण क्या चीज है, यह कोई सोचता ही नहीं। मृत्यु के समय शरीर में असह्य वेदना होती है, इसलिए लोग मरण से नफरत करते हैं। रोग होने पर उसे दूर करने के लिए डाक्टर हमारे पास आता है, उस डाक्टर को ही दुष्ट समझना कितना न्याय्य है, उतना ही, जव आदमी को रोग, प्रहार अथवा निराशा या ऐसा ही कोई आघात असह्य होता हो, जब उसकी व्यथा को दूर करने के लिए जो मरण आता है, उसे दोषी समझना न्याय्य है। जव कोई आदमी चिन्ता, अपमान या किसी रोग के कारण अपनी शैया पर करीब-करीब रात भर तड़पता रहता है और अन्त में दयालु निद्रा आकर उसे शांत करती है, तब कोई यह नहीं कहता कि निद्रा ही उसकी बैरिन है। एक अंग्रेज कवि ने अपने

निद्रास्तोत्र में नींद को 'मनुष्यों की दयालु दाई' (काइण्ड नर्स ऑव मैन) कहा है। मरण के साथ भी अगर इन्साफ करना है, तो उसे मनुष्य का परम सखा कहना चाहिए। बड़े-बड़े धन्वन्तरि और मनोवैज्ञानिक, जो शान्ति और सान्त्वना मनुष्य को नहीं दे सकते, वह यह परम सखा निश्चित और स्थायी रूप से प्रदान करता है।

लोग कहते हैं, "इस तरह मरण का काव्यमय वर्णन करने से वह प्रिय थोड़े ही हो सकता है ?" बात सही है; मरण इतना अनिवार्य और अवश्यंभावी है कि उसकी सिफारिश करके उसको स्वीकार कराने की जरूरत ही नहीं। हमें तो सिर्फ दुःख और दुःख के बीच का बड़ा भेद बताना है। जीवन से वियोग होने के कारण आदमी को जो दुःख होता है, वह दुःख अलग है और मरण के पूर्व जो शारीरिक वेदना होती है, उसका दुःख अलग है। दोनों के लिए मरण का कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं है, मरण तो अपना सेवा-कार्य कर देता है और मनुष्य को दुःख-मुक्त करता है, इतना ही हमें बताना है।

गीता में कहा है कि जैसे कपड़े पुराने होने पर हम नये कपड़े पहन लेते हैं, उसी तरह एक देह के जीर्ण होने पर उसे छोड़कर मनुष्य दूसरी देह ले लेता है, इसमें दुःख करने का क्या कारण है ?

यह आश्वासन सार्वत्रिक नहीं हो सकता है। जब कोई नौजवान, उसकी सारी शारीरिक और मानसिक शक्तियां उत्कृष्ट हालत में होते हुए भी, मारा जाता है अथवा किसी दुर्घटना से मर जाता है, तब हम यह आश्वासन कैसे ले सकते हैं कि जो वस्त्र फेंका गया, वह पुराना था ? अभिमन्यु जब चक्रव्यूह में मारा गया, तब क्या अर्जुन यह मान सकता था कि उसके लड़के का शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था, इसलिए वह

उसने छोड़ दिया और अर्जुन का अपना शरीर इतना जीर्ण नहीं हुआ था, इसी वास्ते उसका देहपात नहीं हुआ ?

आश्वासन तो इस विश्वास से मिल सकेगा कि वस्त्र के बिना कोई जीवात्मा रह ही नहीं सकता। जो वस्त्र फेंका गया, वह चाहे जीर्ण हो या नया, उसे फेंक देते ही दूसरा वस्त्र (देह) मिलने ही वाला है। प्राणियों के लिए देह धारण अवश्यंभावी है, यही एक आश्वासन हो सकता है।

इस प्रश्न की ओर अब हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। हमारी मोक्ष की कल्पना क्या है ? हम चाहते हैं कि एक दफा शरीर छूट जाने पर फिर से शरीर धारण करना ही न पड़े। कबीर ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य को मरना भी तो सीखना चाहिए। मरना ही है तो ऐसा मरे कि फिर से जीना ही न पड़े। जो लोग मृत्यु से डरते हैं, वे जीवन चाहते हैं। जिन लोगों ने दैहिक जीवन के, देहधारी अवस्था के, स्वरूप को अच्छी तरह से जान लिया है, वे तो जीवन से ही घबड़ाते हैं, मृत्यु से नहीं। वे कहते हैं, "कच्चे मरने से फिर से जन्म लेना पड़ता है। अगर कोई चीज खराब है तो जीवन है।" बौद्ध लोग भी जीवन के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण की शून्यता में प्रवेश करना चाहते हैं।

"तब जीवन क्या है ?"—यही सवाल हमारे सामने खड़ा हो जाता है। "जीवन एक साधना है या सजा है ?"

जबतक हम जीवन को नहीं पहचानते, तबतक मरण को भी नहीं पहचान सकेंगे। बचपन से ही हमने यह मान लिया है कि जीवन और मरण परस्पर-व्यावर्तक हैं, परस्पर-विरोधी हैं। "जहां प्रकाश नहीं, वहां अंधेरा है, उसी तरह जहां मरण आ गया, वहां जीवन खतम हुआ।" यह उपमा यहां जान-बूझ कर उलटे रूप में दी है। इसका उलटा रूप हो ही नहीं सकता।

क्या हम यह कहें कि "जहां अंधेरा नहीं है, वहां प्रकाश है। अथवा जहां मरण नहीं, वहां जीवन है ?" सच देखा जाय तो मरण का जीवन पर कुछ भी असर नहीं होता। जीवन के लिए मरण की उतनी ही कीमत है, जितनी देखती हुई आंखों के लिए पलक मारने की। मरण सचमुच जीवन में न तो कोई बाधा डाल सकता है, न उसको घटा या बढ़ा सकता है। जीवन तो निरंतर जारी ही है। अनेक मृत्यु आ जायं, तो भी जीवन का प्रवाह नाटक के जैसा चालू ही है। समय-समय पर मृत्यु की यवनिका गिरती है, यह इष्ट ही है, वरना नाटक भार-रूप हो जाता।

मरण अवश्यभावी है, इसमें तो संदेह नहीं है। किन्तु "मरण की उपयोगिता क्या है? अगर वह उपयोगी है, तो ऋतुचक्र के समान वह निश्चित समय पर क्यों नहीं आता ?"

मरण की उपयोगिता वही है जो गणित में स्लेट बदलने की होती है। गणित का सवाल करते-करते जब एक स्लेट भर जाती है, तब आगे के लिए जितने आंकड़े काम के हों, उतने नई स्लेट पर लिख लिये जाते हैं और बाकी का सारा विस्तार मिटा दिया जाता है। अगर हम ऐसा न करें तो, स्लेट फिर से काम नहीं आयेगी और गणित भी आगे नहीं बढ़ेगा। एक जीवन में हम जो कुछ कमाते हैं, वह सब हमें वहीं-का-वहीं छोड़ देना है। लेकिन हम जो कुछ आंतरिक लाभ पाते हैं, उसे लेकर आगे बढ़ते हैं। 'परस्मैपदी' लाभ इस आयु के लिए है। 'आत्मनेपदी' लाभ जन्म-जन्मांतर के काम आते हैं। 'परस्मै-पदी' लाभों का बोझ अगर बढ़ता चला जाय तो आदमी को देखते-देखते बुढ़ापा ग्रस लेगा और नये-नये अनुभव लेने की उसकी क्षमता ही नष्ट हो जायगी। ऐसे महान अभिशाप से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है मरण।

जीवन और मरण का विचार करते-करते हम पुनर्जन्म तक आ गये। लोगों का सामान्यत: ऐसा ख्याल है कि जिस तरह हम पानी, दूध या चावल एक बर्तन से निकालकर दूसरे बर्तन में भर देते हैं, उसी तरह जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि यह जीवात्मा नित्य है और अनन्त है। दूसरे कहते हैं, जीवात्मा का उतना ही स्वतंत्र अस्तित्व है, जितना किसी घड़े में भरे हुए 'घटाकाश' का। आकाश तो सर्वत्र एकरूप ही है, व्यक्तित्व आकाश का नहीं था; किन्तु घट की आकृति से कुछ काल के लिए उत्पन्न हुआ था। बौद्ध लोग ऐसे आकाश को 'शून्य' कहते हैं और घट को 'संस्कार-समुच्चय' कहते हैं। फलत: वे आत्मा का स्वीकार नहीं कर सकते। जो आत्मा सर्वगत है, वह 'शून्य' हो या 'ब्रह्म', व्यक्तित्व की दृष्टि से एक ही हैं। और जब जीवात्मा मायारूप ही है, तब मरण का उसपर कोई असर होने का कारण ही नहीं।

मरण हाने पर यह व्यक्तित्व कहाँ जाता है? यह कहना कि विष्णु लोक में जाता है, इन्द्रलोक चन्द्रलोक में जाता है, बच्चों का समाधान करना है। और फिर जब पता चला कि यह कल्पनामात्र है, तब उसे छोड़ देने की अपेक्षा उस कल्पना को रूपक मानकर हम उसमें से कुछ-न-कुछ दार्शनिक या आध्यात्मिक अर्थ निकालने की चेष्टा करते हैं। शुद्ध बुद्धि कहती है कि जिस तरह नमक या मिश्री का टुकड़ा पानी में गिरते ही घुल जाता है, उसी तरह मनुष्य का व्यक्तित्व उसके आसपास के सम्बद्ध सामाजिक जीवन में विलीन हो जाता है। आदमी ने जो कुछ भला या बुरा किया हो, वह उसका शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक कर्म ही उसकी आत्मा थी। उसका जो कुछ असर समाज पर हुआ होगा, वही उसका मरणोत्तर जीवन

है। मरण के पहले मनुष्य प्रधानतया अपने शरीर में रहता था और उस केन्द्र को सम्हालते हुए वह अपने व्यक्तित्व को इस समाज में या विश्व में चाहे जितना वढ़ा सकता था। मरण के बाद वह शारीरिक केन्द्र नष्ट हो जाता है, किन्तु जबतक उसके व्यक्तित्व की स्मृति बनी रहती है, तबतक उसका जीवन जारी ही है। उसका जो कुछ भला या बुरा कर्म समाज पर असर करता है, वही उसका मरणोत्तर जीवन है। ठण्डे कमरे में जब हम एक अंगीठी रखते हैं, तब कमरे की हवा में जो उष्णता आती है, उसकी अपेक्षा अंगीठी की उष्णता ज्यादा होती है। वही उसका व्यक्तित्व है। जब अंगीठी का कोयला खत्म हो जाता है, तब अंगीठी की सारी-की-सारी उष्णता कमरे को मिल जाती है। तब तो कमरे के अंदर की सब उष्णता सम-समान हो गई। जो उष्णता अंगीठी के कोयले में थी, वह सारे कमरे में फैल गई। अंगीठी ने कमरे के जितना व्यापक रूप धारण कर लिया और उसका मोक्ष हो गया। अंगीठी के कोयले मर गये; लेकिन उसकी उष्णता कमरे की गरमी के रूप में जीवित है। यही अंगीठी का मरणोत्तर जीवन है।

जब हम कमरे के दरवाजे और खिड़कियां खोल देते हैं, तब अन्दर की उष्णता बाहर की हवामें विलीन हो जाती है। कितना भी अत्यल्प क्यों न हो, उस उष्णता का लाभ सारे वायुमण्डल को मिल ही जाता है।

मनुष्य के मरने पर उसका जीवात्मा क़हिये या संस्कार-समुच्चय कहिये, उसके व्यक्तिगत वायुमण्डल में या परिस्थिति में विलीन हो जाता है और अन्त में वही सारे समाज में संस्कृति के रूप में रह जाता है। व्यक्तियों का सामुदायिक मरणोत्तर जीवन ही संस्कृति है। इसलिए संस्कृति को समाज की आत्मा

कहना चाहिए। असंख्य जीवात्माएं मिलकर यह सामाजिक विराटात्मा हम पाते हैं। व्यक्ति की कीर्ति जीवात्मा की छाया है। समाज की प्रतिष्ठा और उसकी क्षमता सामाजिक आत्मा का व्यक्त स्वरूप है।

इस सामाजिक आत्मा की सेवा हम जीवन के ही द्वारा कर सकते हैं। मरण है तो जीवन का एक आवश्यक पहलू। इसलिए जब हम मौके पर मरना नहीं जानते, तब हमारा जीवन क्षीण और व्यर्थ हो जाता है। मरण में हमेशा जीवन-द्रोह नहीं होता। अक्सर मरण में ही जीवन की परिपूर्ति और-सार्थकता होती है। जो लोग मौके पर मरण का स्वीकार नहीं करते, नका जीवन निस्तेज, भाररूप और व्यर्थ हो जाता है। उसके वाद उनके लिए 'यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सोस्य विश्रान्तिः—वह जितना जीता है, वह उनके व्यक्तित्व का मरण है और बाद में जो शारीरिक मरण आता है, वह उनकी विश्रान्ति है।

(दिसम्बर, १९४०)

४ / मृत्यु का तर्पण : २

जीना अच्छा है या मरना ?

एक जिज्ञासु परमार्थिक सन्यासी लिखते हैं—"आपका 'मृत्यु का तर्पण' शीर्षक लेख मैंने अत्यन्त ध्यान-पूर्वक पढ़ा। उसमें एक भी ऐसा वाक्य नहीं है, जो मुझे मान्य न हो या जिसे मैं खुद न लिखता। मैं समझता हूं कि पुनर्जन्म के विषय में भी शायद आपके और मेरे विचार एक-से ही हैं। अब सवाल यह है कि अन्न खाकर और, वैसी ही नौबत आने पर, दूसरे की जान लेकर भी जीने की इतनी जिद हम क्यों करें ? 'सब

लोग वैसा करते हैं, अथवा और लोग भी वैसा करते हैं, इस-लिए हम भी करें' यह जवाब तत्त्व-जिज्ञासु या तत्त्व-परायण व्यक्ति को शोभा नहीं देगा। मैं ऐसी मीमांसा चाहता हूं, जो कि हरएक विचारशील मनुष्य को मान्य हो सके।"

बहुत से लोग इस सवाल को निरर्थक समझते हैं। मामूली मनुष्य हँसकर कहेगा, "क्या जीने के लिए तात्विक समर्थन की जरूरत है।" लेकिन ऐसा प्रति-प्रश्न करने वाले लोग संन्यासी-जी के ऊपर के सवाल की गंभीरता को नहीं समझ सके हैं। किन्तु खूबी यह है कि उनके प्रश्न में ही संन्यासीजी को एक तरह से उत्तर मिल जाता है।

बहुत से लोग मानते हैं कि हमने जन्म लिया, यह हमारे वश की बात थी ही नहीं! हम इस दुनिया में आये, क्योंकि आने के लिए बाध्य हुए। इसमें हमारी केवल लाचारी ही थी। अगर हमसे पूछा जाता, तो हम आगे की सोचकर जन्म लेने से ही इन्कार कर देते।

इस दृष्टि में बड़ा विचार-दोष है। 'हम जन्म नहीं लेते', कहने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व का आरम्भ कहाँ से होता है? जो समझते हैं कि माता के उदर से निकल कर दुनिया में आने के बाद व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता है, वे 'चर्म-चक्षु' हैं, अदूर दृष्टि हैं। मां-बाप का काम-संकल्प ही व्यक्तित्व का प्रारंभ है। उन्होंने परस्पर ओतप्रोत होने का संकल्प किया, तभी से व्यक्तित्व का उदय हुआ और इसलिए कबूल करना पड़ता है कि व्यक्ति इस दुनिया में स्वेच्छा से ही आता है।

जो लोग पूर्व जन्म में मानते हैं, उन्हें तो स्वीकार करना ही चाहिए कि जन्म लेने की इच्छा के बिना जीवात्मा देह का धारण ही नहीं कर सकता।

कुछ तत्त्वज्ञ-कवि ऐसा भी कहते हैं कि मनुष्य नये जीव को

इस दुनिया में लाने के संकल्प के साथ जन्म और मृत्यु दोनों को आमन्त्रण देता है। विकार के कारण ही जिसकी पैदाइश है, ऐसा शरीर पूर्णतया निर्विकारी नहीं हो सकता। लेकिन, अगर किसी भी साधना के बल पर शरीर और मन निर्विकारी बन जायं, तो वह अमर भी बनेगा। अपने लिए मरण की तैयारी करके ही दो व्यक्ति नये जीव को जन्म दे सकते हैं अथवा सच तो यह है कि दो व्यक्तियों का संकल्प एक होकर बहुत हद तक स्वेच्छा से, वे नये जन्म का धारण करते हैं।

अगर यह बात सही है कि मनुष्य अपनी इच्छा, अपनी वासना या अपने संकल्प के कारण ही नया जन्म लेता है, तो जबतक यह जिजीविषा (जीने की इच्छा) खत्म नहीं हुई है, तबतक केवल आत्महत्या करने से, या अनशन करने से आदमी जीवन से निवृत्त नहीं हो सकता।

'छिन्नोऽपि रोहति तरु,'—न्याय से उसे फिर जन्म लेना ही होगा और आत्महत्या करने में चित्तवृत्ति में जो विकृति पैदा हो जाती है, उसका भी उसे हिसाब चुकाना पड़ेगा। केवल आत्महत्या करने से जीने का संकल्प नष्ट नहीं होता। बौद्ध और वेदान्ती लोग इससे आगे जाकर कहते हैं कि मरने का संकल्प भी एक संकल्प होने के कारण बंधन पैदा करता है और हम फिर से जन्म लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं। जन्म और मृत्यु दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, यह बात जो समझ गए हैं, वे आत्महत्या के द्वारा बच जाने की आशा रखते हैं। वासना-क्षय के द्वारा और सम्यक दृष्टि के द्वारा ही जीने का संकल्प और मरने की इच्छा दोनों का नाश होता है। तत्त्वज्ञ पुरुष अच्छी तरह जानता है कि यह शरीर, एक तरह से देखा जाय तो, आत्मा का कारावास है, और यही शरीर जाग्रत और प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए कारावास से मुक्त होने का साधन

भी है। आत्महत्या करने से हम मानते हैं कि हमने कारागृह का नाश किया। लेकिन वास्तव में हम मुक्त होने के अच्छे-से-अच्छे साधन का ही नाश करते हैं। दवा की बोतल फोड़ देने से हम रोग-मुक्त थोड़े ही हो सकते हैं !

जीना और मरना दोनों का उपदेश तत्त्वज्ञ नहीं करेगा। जबतक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है, तबतक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी उसे जिलाना चाहिए। जब हम देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधारूप हो होता है, तब हमें उसे छोड़ना ही चाहिए, क्योंकि ऐसी हालत में जाग्रत आत्मा स्वयं ही शरीर के विरुद्ध अपनी साधना चलाता है।

उपनिषदों में अन्न की निरुक्ति दो तरह से दी है—"आदमी द्वारा जो खाया जाता है" (अद्) या 'जो आदमी को खाता है" वह अन्न है। आहार जबतक साधना रूप है, तब तक वह शरीर को पोषण देता है। जब आहार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पुष्टि की साधना छोड़कर केवल इन्द्रिय-तृप्ति और विलास का साधन बन जाता है, तब वह खाने वाले को ही खा जाता है। "अद्यते अत्ति वा इति अन्नम"—"जो खाया जाता है, या जो खाता है, वही अन्न है।"

वेदान्त के उपदेशक हमेशा एक उदाहरण दिया करते हैं कि अगर पांव में कांटा चुभ जाय तो दूसरा एक कांटा हाथ में लेकर पांव के कांटे को निकालना चाहिए और उसमें सफल होने के बाद दोनों कांटे को फेंक देने चाहिए। अगर हाथ में लिया हुआ कांटा उसके पहले फेंक दिया जाय तो पांव में घुसा हुआ कांटा कभी निकलेगा ही नहीं।

जबतक जीने का (या मरने का) संकल्प है, तबतक हमें आत्महत्या करने का कोई अधिकार नहीं है।

बंगाल में एक जगह पानी खराब होने के कारण लोगों में बीमारी फैली हुई थी। वहां लोगों की सेवा करने के लिए संन्यासियों का एक जत्था जा पहुंचा। उन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ लोगों की सेवा की। लेकिन वे मामूली तालाब का पानी नहीं पीते थे। अपने लिए उन्होंने पानी का स्वतंत्र बन्दोवस्त किया था। अगर वे सोचते—"जहां हजारों लोगों को निर्दोष शुद्ध जल नहीं मिलता है, वहां हमें अपना अलग प्रबन्ध करने का क्या अधिकार है ? हम भी वही पानी क्यों न पीयें, जो गांव के हजारों और लाखों लोग पीते हैं ?" तो उनके मन में पूरी-पूरी सहानुभूति होते हुए भी वे लोगों की सेवा नहीं कर पाते। वे भी बीमारी के शिकार और दूसरों की सेवा के मुहताज बन जाते।

अगर वही सन्यासी सेवाभाव को भूल जाते और अपनी जान बचाने के लिए बीमारी के स्थान से कोसों दूर भाग जाते तो जिन्दा रहते हुए भी उनका जीवन विफल हो जाता। जबतक जीकर सेवा हो सकती है, तबतक जीने की कोशिश करना, और जहां बलिदान से ही सेवा हो सकती है, वहां जीने का मोह छोड़कर शरीर के विरुद्ध ही साधना करना, यही जीवन-साफल्य है।

जो किसी भी हालत में जीना चाहता है, उसकी शरीर-निष्ठा तो स्पष्ट है ही; लेकिन जो जीवन से ऊबकर अथवा केवल मरने के लिए ही मरना चाहता है, उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है; यह हमें पहचान लेना चाहिए। जीवन न तो सुखमय है, न केवल भाररूप है। जीवन एक साधना है। इतना दर्शन जिसे हुआ, वही सच्चा दर्शन-शास्त्री है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्त-

र्भाव होता है, जिस तरह उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएं मिलकर ही देखने की एक पूरी क्रिया होती है।

५ / मृत्यु का तर्पण : ३

हत्याग्रह की और सत्याग्रह की दृष्टि से

'मृत्यु का तर्पण' शीर्षक दो लेख पढ़कर एक मित्र ने विनोद में पूछा, "काकासाहेब, आप इस तरह मृत्यु के पीछे क्यों पड़े हैं?"

मैंने उतने ही विनोद-भाव में जवाब दिया, "क्योंकि वह मेरे पीछे अनजान में न पड़े! आप मुझसे भी ज्यादा मृत्यु के खैरख्वाह मालूम होते हैं। मृत्यु तो अकेली होते हुए भी सब दुनिया के पीछे पड़ी है और सिर्फ मैं एक आदमी इस मृत्यु के पीछे पड़ा, इतने में आप उस पर दया करके मेरे पास शिकायत करने आये!"

यह तो केवल विनोद की बात हुई। केवल सच बात तो यह है कि मृत्यु से आदमी इतना डरा हुआ रहता है कि उसका चिन्तन तो क्या, नाम तक सहन नहीं करता। मनुष्य की इच्छा रहती है कि अपने सिर का कर्जा, अपना पाप और अपना मरण, तीनों का, जहां तक हो सके, स्मरण तक टल जाय। लेकिन असल में इन तीनों का विचार-युक्त स्मरण रहे, इसी में जीवन की सफलता है। जो मरण अवश्यंभावी है, उसी को अगर हम नहीं पहचानेंगे तो हम अपने आपको सुरक्षित या बुद्धिमान कैसे कह सकते हैं?

मृत्यु का अखण्ड स्मरण रखकर ही जो जीता है, वह अपने जीवन का दुरुपयोग नहीं करेगा। लेकिन जो मृत्यु का स्वरूप ही नहीं समझता और केवल मृत्यु का अंधा डर ही मन में रखता

है, उसका जीवन तो एक अखण्ड और सतत मरण ही बन जाता है। आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, जीवन क्या है, धर्म क्या है, समाज क्या है, नागरिकों का कर्तव्य क्या है—ये सवाल मनुष्य-जीवन के लिए जितने महत्व के हैं, उतना ही महत्व का सवाल है—मरण क्या है ? और उसके प्रति हमारी वृत्ति कैसी रहनी चाहिए ?

यह तो हमेशा की बात हुई। लेकिन आजकल तो मृत्यु का मौसम है। प्लेग, इन्फ्लुएंजा, हैजा, अकाल आदि जब बढ़ते हैं, तब तो मृत्यु की फसल अच्छी होती ही है। लेकिन उन दिनों सब-के-सब प्राणी मृत्यु से बचने की कोशिश करते हैं। आजकल के त्रिखंडव्यापी युद्धों में तो मनुष्य ने ही संहार-लीला चलाई है। मनुष्य ने तो ऐसा संहार मचाया है कि प्रलयकाल का ताण्डवनृत्य चलानेवाले प्रत्यक्ष भगवान शिवजी भी उसके पास तक सबक सीखने के लिए आ जायं।

अगर मृत्यु की शक्ति पर यह अंधविश्वास न होता तो मनुष्य मनुष्यों को मारने का मसाला दिग्दिगंतों से इकट्ठा न करता। जिस दिन मनुष्य का मृत्यु पर से विश्वास उठ जायगा, उस दिन मनुष्य-जाति का जीवन-क्रम ही बदल जायगा। युद्ध में मृत्यु का जो साक्षात्कार किया जाता है, उसके दो पहलू हैं—एक है मारना, दूसरा है मरना। जिस दिन हम मरने के गुण-दोष अच्छी तरह समझ लेंगे, उसी दिन हम निर्भय वीर बनेंगे, सच्चे क्षत्रिय बनेंगे, और जिस दिन हम मारने के गुण-दोष पहचान लेंगे, उसी दिन हम हत्या करना छोड़ देंगे और सच्चे सत्याग्रही बनेंगे।

मनुष्य-जीवन में जबतक एक तरफ लोभ, मोह और अहंकार तथा ईर्ष्या, असूया आदि दुर्गुण हैं, तबतक दूसरी ओर मनुष्य के लिए चिंता और साधना का मुख्य विषय है,

अन्याय का प्रतिकार, और यह प्रतिकार अन्तिम रूप में दो ही ढंग से हो सकता है—हत्याग्रह से या सत्याग्रह से। हत्याग्रह में मरने की तैयारी और मारने की तत्परता बढ़ानी पड़ती है और सत्याग्रह में केवल मरने की। दोनों का सम्बन्ध मृत्यु के साथ आता ही है। इसलिए इस जमाने में हिंसावादियों को तथा अहिंसावादियों को मृत्यु का तर्पण करना ही होगा, अर्थात् मृत्यु का एक स्वरूप यथार्थतया समझकर मृत्यु से हम लाभ कैसे उठावें और मृत्यु का दुरुपयोग कैसे बचावें, यह सोचना ही पड़ेगा। जीना और मरना, जीवन के दो पहलू होने से इन दोनों को एक साथ पहचान लेना जीवन-सिद्धि के लिए परम आवश्यक है।

एक दिन एक फ्रेंच विद्वान से जीवन की चर्चा छिड़ गई। उन्होंने कहा, "किसी को मारे बिना हम जी नहीं सकते"— "लिविंग इज किलिंग"। उन्होंने बड़ी वक्तृता के साथ बताया कि हम सांस लेते हैं, इसमें भी हत्या करनी पड़ती है। खाते हैं, वह भी हत्या है—फिर वह वनस्पति की हो या किसी पशु-पक्षी इत्यादि की। उन्होंने यह भी बताया कि समाज में एक वर्ग दूसरे वर्ग को निचोड़ करके ही जी सकता है। हर क्षेत्र में अपना ही सिद्धान्त कैसे चरितार्थ होता है, यह बताकर, अन्त में बड़े जोश ने साथ उन्होंने कहा, "इसलिए मैं कहता हूं कि हम बिना मारे जी नहीं सकते।"

उस प्रश्न का प्रतिवाद तो हो नहीं सकता था। मैंने उनकी बात को स्वीकार करके कहा, "इसमें शक नहीं कि जीने का अर्थ ही होता है मारना। जीवन का यह सत्य एकरूप है, और आपने उसे सिद्ध किया है। लेकिन जीवन का स्वरूप यह कोई जीवन का धर्म नहीं हो सकता। जीवन का धर्म आपको मुझसे लेना पड़ेगा। कम-से-कम मारना, कम-से-कम हिंसा करना, यही जीवन की कृतार्थता है, यही जीवन-धर्म है।"

मृत्यु के विना जीवन कृतार्थ नहीं हो सकता, यह बात सही है, लेकिन उसके लिए तो विचार-पूर्वक, मौके पर अपने प्राण अर्पण करने पड़ते हैं। औरों को मारने से जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। योग्य प्रमाण में, योग्य ढंग से, सच्चे मौके पर अपना बलिदान देना, अंशतः या पूर्णतः मृत्यु को स्वीकार करना—यही जीवन की सच्ची सफलता है। मारने से, हिंसा करने से, जीवन की जटिलता बढ़ती है। जीवन की गुत्थियां और भी अधिक पेचीदा वनती हैं। जो हत्या करता है, और जिसकी हत्या हो जाती है, दोनों ही जीवन दर्शन से दूर-दूर हो जाते हैं, लेकिन जीवन और मृत्यु का रहस्य समझकर जो लोग अहिंसावृत्ति धारण करके मृत्यु से पूरा लाभ उठाना जानते हैं, वे ही सच्चे जीवन-स्वामी बनते हैं। जो सिर्फ जिन्दा रहता है, और जिन्दा रहने के लिए सब कुछ बुरा-भला करने को प्रस्तुत होता है, वह जीवन-स्वामी नहीं बन पाता। जीवन-स्वामी तो वही है, जो अपने जीवन को कुशल किसान की तरह मृत्यु की मदद से विश्व-व्यापार के क्षेत्र में बो सकता है।

इसलिए जिन दिनों एक ओर हत्या की विफलता का अनुभव करने के लिए मनुष्य-जाति ने सबसे बड़ी, विराट और भीषण प्रयोगशाला खोली है, और दूसरी ओर एक सत्याग्रह का दैवी तत्त्व दुनिया में चलाने वाला एक प्रयोग-वीर हमारे बीच है, उन दिनों हिंसा और अहिंसा की चर्चा करने से पहले हम यह अच्छी तरह समझ लें कि मृत्यु क्या चीज है? विचार करके, ध्यान-चिन्तन करके और आवश्यक प्रयोग करके मृत्यु के स्वरूप को पहचानें। मृत्यु इस दुनिया में क्यों भेजी गई है, मृत्यु का जीवन-कार्य क्या है, यह हम अच्छी तरह समझ लें।

अक्तूबर १९४२

६ / स्वेच्छा-मरण

बौद्ध धर्म में दो तृष्णाओं का जिक्र आता है——भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा। भव-तृष्णा होती है, जीने की अनिवार्य इच्छा। विभव-तृष्णा होती है, न जीने की यानी मरने की उतनी ही अनिवार्य इच्छा। भव-तृष्णा सार्वभौम है, प्राणिमात्र में पाई जाती है। हर तरह के दुःख सहते हुए भी मनुष्य जीना चाहता है, मरना नहीं। विभव-तृष्णा, न जीने की यानी मरने की इच्छा, विरले ही लोगों में पाई जाती है। लेकिन कम होते हुए भी उसका अस्तित्व कबूल करना ही पड़ता है।

धर्म कहता है कि ये दोनों तृष्णाएँ दोष-रूप हैं, मनुष्य की उन्नति के लिए बाधक हैं। इसलिए मनु भगवान ने एक ही वचन में कहा है, "नाभि नन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्—" मृत्यु का अभिनन्दन न करो, मृत्यु को पाने की वासना मत रक्खो। जीवित का भी अभिनन्दन न करो। जीने की उत्कण्ठा और मोह नहीं रखना चाहिए।

हमने कहा कि मरने की इच्छा प्राणिमात्र के स्वभाव में नहीं होती। अपवाद के तौर पर ही कोई जीवन से ऊब जाता है और मृत्यु को पसन्द करता है। लेकिन मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे युग या ऐसे कालखंड पाये जाते हैं, जब लोगों में विभव-तृष्णा की, मर मिटने की वासना समाज में छूत के रोग जैसी फैलती है। तब समाज-नेताओं का कर्तव्य होता है कि विभव-तृष्णा के रोग से लोगों को बचावें। बौद्ध युग में ऐसे भी दिन पाये जाते हैं, जब अनेक लोगों में मर मिटने का उत्साह छूत या संसर्ग की तरह बढ़ता जा रहा था और उसके खिलाफ समाज के नेताओं को जबरदस्त आन्दोलन करना पड़ा

था। रोमन लोगों में भी यह रोग किसी समय फैला हुआ था। उसे दूर करने के लिए समाज-नेताओं को असाधारण परिश्रम करना पड़ा था। "यह संसार असार नहीं है, तथ्यपूर्ण है। इसलिए उसके प्रति उदासीन न बनो। जी-जान से जीओ"—ऐसा उपदेश और प्रचार करना पड़ता था।

इसके विरुद्ध समाज में ऐसे भी कालखंड पाये जाते हैं, जब लोग देह-पूजक बनते हैं। चाहे जितनी भीरुता और हीनता बरदाश्त करके भी जीने के लिए उत्सुक होते हैं। वह जीवितेष्णा मनुष्य को बिल्कुल पामर बना देती है।

जो आदमी फौज में भर्ती होता है, वह आज्ञा पाने पर देश के शत्रु को मारने के लिए वचनबद्ध होता है; लेकिन साथ-साथ वह मारे जाने के लिए भी तैयार रहता है। यही है असली क्षत्रिय धर्म। अपनी जान खतरे में डाले विना दूसरे किसी को मारने के लिए जो तैयार होता है, उसे खूनी या जल्लाद कहते हैं। जो पुरुष मरने के लिए भी तैयार है, वही सच्चा क्षत्रिय है। युद्ध में मरने के लिए तैयार रहना, इस वृत्ति को कोई विभव-तृष्णा नहीं कहेगा। मरण का खतरा मोल लेना, उसके लिए तैयार रहना, यह एक वात है और अब तो जीना ही नहीं, मरना ही है, ऐसा सोचकर, जो मनुष्य मरने पर उतारू होता है, वह दूसरी बात है।

मर मिटने की वासना प्रकृति के अनुकूल नहीं है। समाज में कभी-कभी रोग के तौर पर वह कुछ दिन के लिए फैल जाय, यह हो सकता है; लेकिन वह समाज का स्थायी अंग नहीं बनती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रेरणाएं जैसी विश्वजनीन हैं, अदम्य हैं; स्वाभाविक या प्राकृतिक हैं, वैसी विभव-तृष्णा नहीं है। इसलिए उसके सार्वभौम होने का डर हो नहीं सकता। रोग की तरह किसी समय जो चीज अल्पकाल के लिए फैलती

है, उसे ख्याल में रखकर समाज-धर्म निश्चित नहीं किया जा सकता। रोग फैलने पर उसका इलाज करना ही चाहिए; लेकिन समाज-धर्म में ऐसे इलाजों को स्थायी रूप से नहीं दिया जा सकता।

विभव-तृष्णा के बारे में जितना सोचना आवश्यक था, वह इस तरह सोचने के बाद स्वेच्छा से स्वीकृत मरण का विचार करना ठीक होगा।

जीने के लिए सांस लेना, अन्न खाना, शरीर-परिश्रम करना, सो जाना, ये सब बातें मनुष्य के अधीन हैं। जब मनुष्य देखे कि अब जीने में सार नहीं हैं, जीने का प्रयोजन खत्म हो चुका है, और अधिक जीने से अपने व्यक्तित्व पर और समाज पर भाररूप ही बनना है, तब मनुष्य को स्वेच्छा से मर लेने का अधिकार है या नहीं, यह एक बड़ा नैतिक सवाल है। मैं आप-ही-आप नहीं जी सकता। अपने पुरुषार्थ से शरीर को अन्न-जल आदि आहार दे दूं, तभी शरीर टिक सकता है। ऐसी जब वस्तुस्थिति है, तब इस पुरुषार्थ को न करने का अधिकार भी मेरा होना चाहिए। इस अधिकार का मैं दुरुपयोग न करूं। लेकिन योग्य कारण उपस्थित होने पर इस अधिकार को काम में लाना मेरा कर्तव्य होता है या नहीं, यह बड़ा सवाल है।

एक नैतिक सवाल का विवेचन करते हुए गांधीजी ने कहा था कि मनुष्य को प्राणान्त करने का अधिकार है, होना चाहिए।

अगर मनुष्य में पाप-वासना प्रबल हुई और दुराचार, अत्याचार करने से वह अपने को रोक ही नहीं सकता, ऐसा उसका अनुभव हुआ तो पापाचरण से बचने के लिए उसे आत्म-हत्या करने का अधिकार है।

गांधीजी ने यह भी स्पष्ट किया कि आज जो कई लोग

अपने हाथों पाप-कर्म हो जाने के बाद फजीहत और बेइज्जती से बचने के लिए आत्महत्या करते हैं, वह उन्हें मान्य नहीं है। मनुष्य दुराचार टाल न सका, दुराचार हो ही गया तो उसका धर्म है कि वह जीकर उसका प्रायश्चित्त करे। जब दुराचार हो चुका और पाप-संकल्प का वेग कम हो गया तब उसका प्रथम धर्म है पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त करने का और नये सिरे से सदाचारी जीवन प्रारम्भ करने का।

आत्महत्या करने का एक ही प्रसंग उन्होंने मान्य रक्खा है। जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने-को पाप से बचा नहीं सकता, तब होनेवाले पाप से बचने के लिए ही उसको आत्महत्या करने का अधिकार है।

यह एक साधारण परिस्थिति की बात हुई। सामान्य तौर पर अगर मनुष्य देखे कि उसे कोई असह्य रोग हुआ है, जिसका इलाज हो नहीं सकता, रोग के साथ जीना दूभर हो गया है, समाज की कुछ सेवा भी नहीं हो सकती, आत्म-चिन्तन जैसी साधना भी नहीं हो सकती, और जीवन केवल भाररूप ही हो गया है, तब मनुष्य को न जीने का, अपने जीवन का अन्त करने का, अधिकार होना चाहिए। निष्प्रयोजन, निरुपयोगी जीवन जीने के लिए या ऐसा जीवन टिकाने के लिए मनुष्य बाध्य नहीं है। जो घड़ी समय बता ही नहीं सकती, उसे चाबी देते रहने के कोई मानी नहीं हैं।

अगर किसी की आत्म-साधना पूरी हुई, शरीर में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सेवा करने की तनिक भी शक्ति न रही, तो ऐसे व्यक्ति को भी जीवन-क्रम का अन्त करने का अधिकार है।

आत्यन्तिक अहिंसा का ख्याल करने वाला मनुष्य कहेगा—"हिंसा किये बिना जिया नहीं जा सकता। अहिंसा की साधना

करने के लिए, जीव-सेवा के लिए, आत्म-चिन्तन और आत्म-प्राप्ति के लिए जितना आवश्यक हो, उतना तो हम अवश्य जियें, लेकिन ऐसा प्रयोजन न रहने पर शरीर-पालन की प्रवृत्ति से हम निवृत्त हो जायं, यही सच्चा धर्म है।"

इस तरह का विचार जैनियों ने कर रक्खा है। भगवान पार्श्वनाथ ने इस धर्म को स्वीकार किया है। जैन-परिभाषा में इसे 'मारणान्तिक सल्लेखना' कहते हैं। मरण की प्राप्ति हो जाय तबतक, शरीर को पोषण न देना यानी उपवास करके शरीर को छोड़ देना, यही इसका अर्थ है।

इसे हम आत्महत्या न कहें। निराश होकर, कायर होकर या डर के मारे शरीर को छोड़ देना, यह एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है, लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन परिपूर्ण हुआ है, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही है, तब वह आत्म-साधना के अन्तिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूं। मैं जानता हूं कि इस चीज का दुरुपयोग हो सकता है; लेकिन ऐसी कौन-सी अच्छी चीज है, जिसका दुरुपयोग नहीं हो सकता? दुरुपयोग के डर से अच्छी और सच्ची चीज का समर्थन न करना एक बड़ी गलती होगी।

अब जो स्वेच्छा-मरण के साथ एक-दो सवाल संलग्न हैं, उनका विचार भी हम करें। एक विचार है सती की प्रथा का या सहगमन का। आज इस चीज का कोई समर्थन नहीं करता। बाणभट्ट के साथ मैं भी कहता हूं कि यह 'मौर्ख्यस्खलित' है। लेकिन इसके पीछे की भावना को हम तटस्थ भाव से सोच सकते हैं। पति की मृत्यु के बाद पति के घर में प्रतिष्ठा

नहीं रहेगी, कुछ दुर्दशा होगी, इस डर से अगर सहगमन किया तो वह आत्महत्या ही है। पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता पर आरोहण करने से जब स्त्री मानती है कि पति के साथ उसे रहने को मिलेगा और मरण के भय से इस मौके को खो देना कायरता है, पति-भक्ति या पति-निष्ठा की कमी है, तब वह सच्चा सहगमन है। उसे हम आत्महत्या की कोटि में नहीं डालेंगे। उसकी कोटि ही अलग है।

लेकिन हमें विश्वास नहीं होता कि सहगमन के बाद पति और पत्नी दोनों को सहवास का मौका मिलेगा ही। हम उसके बारे में कुछ नहीं जानते; लेकिन हमारा दृढ़ विश्वास है कि स्त्री में पति-निष्ठा कितनी भी उत्कट हो, पति की मृत्यु के बाद इसी दुनिया में रहना और अनेक तरह के कर्तव्यों का पालन करना पत्नी का धर्म है, कर्तव्य है और सहगमन करना धर्म नहीं है, शायद अधर्म हो सकता है।

लेकिन सहगमन के आदर्श को मानकर जो स्त्रियां सती हो चुकीं, उनके प्रति हमारे मन में आदर ही है। इसलिए हम उन्हें देवियां कहते आए हैं। लेकिन उनके सहगमन के कार्य का समर्थन नहीं कर सकते।

हमारे देश में एक और प्रथा थी।

जहां पर्वत के शिखर पर ऊंची चट्टान हो, वहां भैरव का मन्दिर खड़ा कर देते थे और मानते थे कि उस स्थान से भैरव का जाप जपते अगर कोई कूद पड़े तो उसे आत्महत्या नहीं समझना चाहिए। माना जाता है कि इस तरह की मृत्यु के बाद मोक्ष ही मिलता है। इलाहाबाद-प्रयाग में जहां गंगा-यमुना का संगम है, वहां पर अक्षयवट पर चढ़कर, पानी में कूदकर चन्द लोग प्राणान्त करते थे। इस प्रथा को तोड़ने के लिए अकबर बादशाह ने अक्षयवट के इर्द-गिर्द एक किला बना

दिया। फल यह हुआ कि आत्महत्या द्वारा मोक्ष पाने का एक रास्ता श्रद्धालु लोगों के लिए बन्द हो गया।

प्रयाग के बारे में जब हम पढ़ते थे, तब ऊपर को सब बातें ज्ञात हुईं।

इस भैरवघाटी से कूदकर मोक्ष पाने के रिवाज के बारे में मैंने अन्यत्र कुछ विवेचन किया है। सृष्टि की भव्यता, पर्वत-शिखर की उत्तुंगता या सागर की गंभीरता देखकर जब मनुष्य के मन पर उसका कैफ के जैसा असर होता है और मनुष्य आपे से बाहर होकर शरीर छोड़ देता है, तब सम्भव है कि उसे क्षणिक भावना के द्वारा या एकपक्षीय चिंतन के द्वारा विश्वात्मैक्य का साक्षात्कार होता है और उस ऐक्य के अनुभव के साथ शरीर की जुदाई अगर उसे असह्य होती हो और इसलिए ऐक्यानुभव स्थिर करने के लिए अगर वह शरीर छोड़ देना हो तो उसकी भी एक स्वतन्त्र कोटि मान लेनी चाहिए। आज के लोग इसे 'क्षणिक पागलपन का आवेग' कह सकते हैं। कोई इसको 'काव्य-मय वृत्ति का उत्कर्ष' कहकर उसका समर्थन भी कर सकते हैं। हम तो इसे 'साधन का उन्माद' कहेंगे। ऐसे स्थान पर जाकर जो भावना का उद्रेक होता है, उसका कुछ अनुभव होने से हमने इसे 'साधन का उन्माद' कहा है। जो हो, ऐसे प्राणान्त का समर्थन नहीं हो सकता, उसकी निन्दा भी नहीं हो सकती। 'मारणान्तिक सल्लेखना' का एक प्रकार वह हो सकता है। उपवास के द्वारा ही शरीर छोड़ना चाहिए, ऐसी मर्यादा 'मार-णान्तिक सल्लेखना' पर हम क्यों डालें?

विजयनगर के किसी राजा ने बड़े समारोह के साथ नदी में प्रवेश किया और सब प्रजाजनों को नमस्कार करके जलसमाधि ले ली, ऐसा वर्णन हमने किसी कन्नड़ ग्रंथ में पढ़ा था। यह किस्सा भी 'मारणान्तिक सल्लेखना' का प्रकार हो सकता है।

आत्महत्या अथवा स्वेच्छा-स्वीकृत मरण का यहां पर कानूनी दृष्टि से विचार नहीं किया है। कानून तो समाज की बहुजनमान्य-कल्पना को अथवा उसके बहुजन-स्वीकृत आदर्शों को दृढ़ करता है। सामाजिक आदर्श का विवेचन कानून के पीछे-पीछे नहीं चल सकता। कानून को ही आदर्श का अनुसरण करना चाहिए।

एक जापानी वीर अपने शरीर पर तरह-तरह के बम बांध-कर वायुयान में सवार हुआ और जब वह वायुयान आकाश में शत्रु के किसी जहाज के ठीक ऊपर आया तब वह ऊपर से जहाज के फनेल में कूद पड़ा और इस तरह उसने शत्रु के जहाज का, और साथ-साथ अपना भी नाश कर दिया, ऐसा वर्णन पिछले युद्ध में कहीं पढ़ा था। ऐसी वीरता दिखानेवाले वीरों की जमात को 'स्विसाइड स्क्वैड' कहते हैं। महाभारत में भी संशप्तक-दल का जिक्र आता है। ये लोग भारतीय नहीं थे। जब वे लोग लड़ने जाते थे तब जिन्दा न लौटने का प्रण करके ही जाते थे। यह भी 'स्विसाइड स्क्वैड' के जैसा ही दल था।

ऐसे स्वेच्छा-मरण की समाज तारीफ करता है। ऐसे वीरों के लिए वीरगान बनाए जाते हैं। आत्महत्या कहकर उसकी कभी किसी ने निन्दा नहीं की है। मामूली युद्ध में हरएक आदमी मरता ही है, सो नहीं। जो युद्ध में शरीक होता है, वह मौत का खतरा उठाता है। लेकिन 'स्विसाइड स्क्वैड' में तो मरण निश्चित ही है, तो भी उसे कोई आत्महत्या का अपराध नहीं कहता है, क्योंकि उसमें प्रेरणा होती है क्षात्र-धर्म द्वारा सर्वोत्तम राष्ट्रसेवा करने की।

गांधीजी जिसे आमरण अनशन कहते थे, उसमें और 'मार-णान्तिक सल्लेखना' में बड़ा फर्क है। आमरण अनशन की बुनि-

याद में मरने की इच्छा नहीं होती। अनशन द्वारा किसी के मन पर और हृदय पर असर करने का उद्देश्य होता है। असर होते ही अनशन छोड़ने का संकल्प होता है। थोड़ा समय अनशन करके सन्तोष मानने की उसमें बात नहीं है। सात या दस दिन के उपवास से भी असर न हुआ तो बारह-पंद्रह दिन तक चलाने की और ऐसे चलाते-चलाते देह अगर गिर जाय तो उस परि-स्थिति को भी स्वीकार करने का संकल्प होता है। उपवास द्वारा असर करने का संकल्प और आवश्यक होने पर मरने की तैयारी, यह होता है उसका स्वरूप। 'मारणान्तिक सल्लेखना' में मरण ही प्राप्तव्य होता है। इसीलिए सामान्य लोग उसे आत्म-हत्या मानते हैं और उसका विरोध करते हैं। मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जायं, यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमन्त्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना, यह एक सुन्दर आदर्श है। मानवीय जीवन का चिन्तन करने वालों को इसकी गहराई पर विचार करना चाहिए।

अगस्त, १९५६

७ / मरण-दान

हम लोग भ्रातृभाव से, कौटुम्बिक भाव से या दयाभाव से मनुष्यों की और मनुष्येतर जीवों की कुछ-न-कुछ सेवा करते ही रहते हैं। सेवा-वृत्ति मनुष्य-स्वभाव का सहज और सुन्दर अंग है। जहां सेवा की आवश्यकता है, उस प्रसंग से मुंह न मोड़ना और जहां सेवा की जरूरत नहीं है, वहां मोहवश होकर

सेवा करके असेवा के दोष में न फंसना, यह है मनुष्य का धर्म। इस धर्म को यथार्थ रूप से समझने के लिए सेवा-धर्म के रहस्य को अच्छी तरह समझना चाहिए।

किसी भूखे को अन्न देना, प्यासे को पीने के लिए पानी या शरबत देना, थके हुए को आराम और आहार देना, डरे हुए को अभयदान देना, हारे हुए को आश्वासन और प्रोत्साहन देना, मरीजों को दवा देना और पथ्य का प्रबन्ध करना, शरणागत को आश्रय देना, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाले को कन्या देना, जिज्ञासु को ज्ञान देना, उत्कट साधक को साधना बताना, पुरुषार्थी को सहयोग देना, प्रतिज्ञा-दुर्बल को वचन-पालन या व्रत-पालन में मदद करना, निद्रालु को समय पर जगाना, प्रमादशील को खबरदार करना इत्यादि सेवा के अनेक प्रकार हैं। अन्नदान, अभयदान से लेकर ज्ञानदान और सहयोगदान तक अनेक प्रकार के दानों द्वारा हम सेवा कर सकते हैं। इस दानवृत्ति में प्रेम-भाव ही प्रेरक होता है। जिसको कुछ भी दान देते हैं, उसका भला करने की ही कामना उसमें होती है।

अब सवाल उठता है किसी जीव को जब जीना असह्य होता है और जीने के कोई मानी ही नहीं रहते, ऐसी हालत में उसे अगर मरण की जरूरत हो तो वहां मदद कर सकते हैं या नहीं? महादजी सिंधिया के समय का इतिहास पढ़ते समय एक बात नजर आई थी, जिसका जिक्र इससे पहले हो चुका है।[1]

क्या उसे हम खून कह सकते हैं? मैं तो कहूंगा कि मरण-दान का यह विशुद्ध उदाहरण है। उस राहगीर ने सत्कर्म ही

देखिए पृष्ठ २३.

किया, जिसने उस वीर के गले पर खंजर चलाकर उसे वेदना से मुक्त किया। ऐसे मौके पर हरएक सज्जन का यही कर्तव्य हो सकता है। इस मरण-दान को न हम खून कहते हैं, न हत्या। जिस तरह शल्य-वैद्य (सर्जन) मरीज के हाथ या पांव काटकर दूर करते हैं और मरीज की सेवा करने का आनंद अनुभव करते हैं, उसी तरह विशिष्ट मौके पर सारे शरीर को काटकर मरीज को दुःख-मुक्त करना, यह भी सेवा ही होती है।

जूलियस सीजर के राष्ट्रीय खून में सीजर का प्रिय मित्र ब्रूट्स भी शरीक था। रोम की जनता ब्रूट्स पर चिढ़ गई और उसे मारने दौड़ी। ब्रूट्स भागा, लेकिन देखा कि लोग उसे घेर ही रहे हैं, तब उसने सोचा कि मैं इन लोगों के हाथों क्यों मरूं? उसने अपने नौकर से कहा कि यहां दीवार के पास खड़े रहो और अपनी तलवार मेरी ओर ताकते मजबूती से पकड़ो फिर ब्रूट्स जोरों से दौड़ता आया और उस तलवार पर धंस पड़ा। तलवार उसके पेट में आरपार चली गई और ब्रूट्स का अन्त हो गया। ब्रूट्स ने खून से बचने के लिए आत्महत्या की और उसके नौकर ने अपने मालिक को मरण पाने में मदद की। यह भी एक किस्म का मरणदान ही था।

किसी सज्जन को कुष्ठरोग हुआ। गलित-कुष्ठ था, जिसे रक्तपित्ती भी कहते हैं। तरह-तरह के इलाज करने पर भी रोग हटा नहीं। सारे शरीर में फैल गया। हाथ, पांव, नाक, कान, आंख सब व्याप्त हो गए। जीना दूभर हो गया। आसपास के सेवा करने वाले लोग थक गए। रोग-मुक्त होने की आशा होती तो सेवक न थकते। यहां तो केवल मरण नहीं आता था, इसीलिए उसकी सेवा करते रहने की बात की। सारी परि-स्थिति समझ कर मरीज ने डाक्टर से प्रार्थना थी, "अब मेरे जीने में स्वारस्य क्या रहा? मेरा यह वेदनापूर्ण दुर्गन्धियुक्त

शरीर और निरर्थक जीवन देखते रहना क्या तुम्हारे लिए शोभा देता है ? ऐसे शापरूप जीवन से मुझे मुक्त करना क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं है ? तुम्हारा दया-धर्म क्या कहता है ? मुझे मरण-दान अगर नहीं दोगे तो यह तुम्हारी कठोरता और क्रूरता नहीं होगी ? कम-से-कम कायरता तो है ही।"

मैं मानता हूँ कि ऐसी हालत में मरण-दान देकर शरीर छोड़ने में मरीज की मदद करना, यही डाक्टर का पवित्र कर्तव्य है। उसे टालना सामाजिक गुनाह है, अधर्म है।

साबरमती के सत्याग्रहाश्रम में हम लोग एक गौशाला चलाते थे। उसमें गाय का एक बछड़ा बीमार हुआ। हम आश्रम-वासियों की गौ-भक्ति तुच्छ कोटि की नहीं थी। आश्रम के पास सेवकों और पैसों की भी कमी नहीं थी। गांव और शहर के पशु-वैद्य बुलाये गए। सब तरह का इलाज किया गया। लेकिन बछड़े का रोग दूर नहीं हुआ। उसकी अन्त घड़ी नज-दीक आई। चार-आठ दिन वेदना भुगत कर बछड़ा मर जाता। ऐसी हालत में गांधीजी ने सुबह की प्रार्थना के बाद आश्रम के चन्द व्यक्तियों को बुलाकर पूछा, "आप लोगों की राय क्या है ? उस बछड़े का अन्त करना हमारा धर्म है, ऐसी मेरी राय है। आपका अभिप्राय चाहता हूं।" मैंने कहा, "आपकी राय के साथ मैं सहमत तो हूं, लेकिन ऐसा गम्भीर सवाल उठने पर मेरा धर्म है कि मैं बछड़े की इस क्षण की हालत देखूं और बाद में ही अपनी राय दूं।"

जब मैं गौशाला में गया तो बछड़ा बेहोश पड़ा था। हलन-चलन कुछ नहीं था। मैं असमंजस में पड़ा था कि अपनी राय कैसे निश्चित कर लूं ?

इतने में बछड़े के शरीर में वेदना का नया दौर आ गया। वह अपने चारों पैर जोर-जोर से झाड़ या झटक रहा था। उस

की वेदना देखी नहीं जाती थी। मैंने अपनी राय तय कर ली।

गाँधीजी ने एक डाक्टर को बुलाया। उसने ऐसा एक इंजेक्शन दिया कि एक क्षण के अन्दर बछड़ा शान्त हो गया और उसकी जीवन यात्रा समाप्त हुई।

गांधीजी ने यह सारा किस्सा अखबार में छाप दिया और हिन्दू जगत में बड़ी खलबली मच गई कि महात्माजी ने गौ-हत्या का पाप किया। उस पर गाँधीजी को अनेक लेख लिखने पड़े और तब वह प्रकरण शान्त हुआ।

सरदार वल्लभभाई ने अपनी राय दी थी कि बछड़ा आप-ही-आप चार-छः दिन में मर जायगा। उसे जल्दी छुड़ाने से आप नाहक टीका-टिप्पणी मोल लेंगे और अब जो हम फंड इकट्ठा करने अहमदाबाद, बम्बई, सूरत जा रहे हैं, उसमें बाधा आयगी। गाँधीजी ने इतना ही कहा, "बात सही है। लेकिन यह धर्म का जो सवाल है। बछड़े के प्रति हमारा जो धर्म है, उससे हम विमुख कैसे हो सकते हैं?"

धर्म के बारे में गांधीजी से चर्चा न करने का वल्लभभाई का निश्चय था, वह चुपचाप चले गए।

जानवरों के बारे में, खास करके घर में प्यार से रक्खे हुए पालतू जानवरों के बारे में, मरण-दान के कर्तव्य को स्वीकार करना इतना कठिन नहीं है। अगर ऊपर के किस्से में गाय के बछड़े का सवाल नहीं होता, दूसरे किसी प्राणी का होता तो समाज में इतना होहल्ला नहीं मचता। लोग अपनी बुद्धि चला कर मरण-दान की बात शायद आसानी से मान जाते।

लेकिन मनुष्य को विशिष्ट परिस्थिति में मरण-दान देना विहित या धर्म्य है या नहीं, यह सवाल बड़ा पेचीदा है।

पालतू जानवर हमारा प्रेम समझ सकता है। प्रेम करता भी है। लेकिन न वह अपनी परिस्थिति पूरी तरह से समझ

सकता है, न विचार-पूर्वक अपना अभिप्राय बांध सकता है, न अपनी राय प्रकट कर सकता है। इसलिए जिस तरह छोटे बच्चों के बारे में मां-वाप या पालक को ही सबकुछ तय करना पड़ता है, उसी तरह पालतू जानवरों के बारे में भी तय करने का मालिक का अधिकार है।

अगर सब मनुष्यों की नीयत अच्छी होती तो मनुष्य को मरण-दान देने के बारे में भी सवाल आसान हो जाता। अगर मरीज अथवा मरण-दान का प्रार्थी स्वयं कहता है कि मुझे मरण दे दो, समाज यानी समाज के प्रतिनिधि भी मान्य करते हैं कि प्रसंग मरण-दान के योग्य है तो गंभीरता से सोचने के लिए कुछ समय देकर उसके बाद मरण-दान का औचित्य स्वीकार करके इतनी सेवा हो सकती है।

लेकिन मनुष्य समाज में आदमियों के पारस्परिक सम्बन्ध वड़े जटिल होते हैं। किसी की किसी के साथ छुपी दुश्मनी होती है; किसी के मरण से दूसरे किसी को आर्थिक या अन्य किस्म का लाभ हो सकता है या अधिकार प्राप्त हो सकता है। जिन-जिन हेतुओं से एक मनुष्य दूसरे का खून कर सकता है, उन-उन हेतुओं से प्रेरित होकर मनुष्य चालबाज़ी कर सकता है और मरण-दान की योग्यता कृत्रिमता से सिद्ध कर सकता है। इसलिए मनुष्य को मरण-दान देने के शुद्ध और स्पष्ट प्रसंग और उनका औचित्य मान्य करते हुए भी मरण-दान की सम्मति देना खतरनाक है।

इसलिए समाज कहेगा कि मानवीय संस्कृति की आज की हालत में, किसी भी सूरत में, मरण-दान के लिए सम्मति न देना ही अच्छा है। व्यवहार की दृष्टि से यह निश्चय या नीति अनुचित नहीं है। लेकिन शुद्ध, पवित्र सेवा, धर्म के तकाजे की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। किसी आदमी के बीमार

होते हुए भी उसे दवाई न देना, उसकी चिकित्सा न करना, यह जैसी असामाजिक वृत्ति है, कठोरता है, गुनाह है, उसी तरह जहां मरण-दान सर्वोत्कृष्ट सेवा है, वहां उससे मुँह मोड़ना आज की मानव-संस्कृति का ख्याल करते हुए गुनाह है, कर्तव्य-च्युति है। कुछ साल पहले घटी हुई एक प्रत्यक्ष घटना का थोड़ा विवेचन यहां प्रस्तुत है। मैं भूल गया हूं, घटना इंग्लैंड की थी या अमरीका की। एक मनुष्य की पत्नी ने बच्ची को जन्म दिया और वह मर गई। पिता ने देखा कि बच्ची अंधी और बहरी है। आगे जाकर मालूम हुआ कि लड़की गूंगी भी है। पोलियो या ऐसे ही कुछ रोग होकर लड़की के पांव भी गये। पिता ने अपना उत्तरदायित्व समझ कर बड़े प्यार से और लगन से लड़की की परवरिश की।

अब हम सोच सकते हैं कि जो लड़की जिन्दगी में दुनिया का कुछ देख नहीं सकती, सुन नहीं सकती, जिसके पास समझने के लिए या सोचने के लिए भाषा नहीं है, उसके स्वभाव का विकास कैसे होगा! जानवरों के कम-से-कम आंख-कान होते हैं, इसलिए परिस्थिति को कुछ हद तक समझ सकते हैं। प्यार और सेवा भी समझ सकते हैं। यहां तो अमीबा जैसी हालत। खाना-पीना और जीना। लेकिन लड़की के दिमाग भी था, जिसका कुछ भी विकास न हो सका। ऐसी हालत में लड़की के स्वभाव की भी कल्पना हम कर सकते हैं।

पिता ने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़ी बहादुरी और असाधारण निष्ठा से लड़की की सेवा की। अब लड़की कुल तीस बरस की हो गई और पिता वृद्ध होकर पंगु बन गया। अपने को संभालना ही उसे दूभर हो गया। उसने देखा कि अब वह इस दुनिया में थोड़े ही दिन का मेहमान है। लड़की की चिन्ता तो थी ही। पिता के मरने के बाद गूंगी, बहरी और

अंधी तथा पंगु लड़की को कौन संभालेगा ? प्यार से उसका जतन कौन करेगा ? पिता ने बहुत विचार किया। अनेक उपाय सोचे। उसके कुछ भी ध्यान में नहीं आया। उसने लड़की की जिस प्यार से सेवा की थी, उसी लोकोत्तर प्यार ने उसे हिम्मत दे दी। अन्त में सेवा के रूप में उसने लड़की को मरण-दान देने का संकल्प किया और उसका अमल भी किया। लड़की के जीते जिस समाज ने पिता को तनिक भी मदद नहीं की थी और उसके साथ विचार-विनिमय भी नहीं किया था, उस समाज ने, समाज के सरकारी प्रतिनिधियों ने पिता के ऊपर खून का इल्जाम लगाया। न्याय-मन्दिर में उसका विचार चला। न्यायाधीश असमंजस में पड़े। ऐसा मामला उनके सामने कभी नहीं आया था। कानून की मर्यादा के बाहर वे जा नहीं सकते थे। खूब सोचकर उन्होंने निर्णय दिया कि पिता मनुष्य-वध का दोषी तो है, किन्तु असाधारण परिस्थिति को सोचते हुए उसे क्षमा किया जाय।

वृद्ध पिता मरण के किनारे पहुंचा ही था। अगर न्याय-मंदिर उसे मरण की सजा देता तो शायद पिता उस सजा को हर्ष के साथ स्वीकार करता। लड़की की आखिर तक सेवा करने का समाधान उसे था ही। अपनी मृत्यु के बाद लड़की की जो विडम्बना होती, उसे बचाने के लिए उसने लड़की को मरण-दान दिया था, उसका भी उससे समाधान था। यज्ञ-कर्म पूरा करके अवभृथ स्नान करके यजमान जिस कृतकृत्यता का समाधान अनुभव करता है, वही समाधान उसे मिला था। समाज या न्याय-मंदिर क्या कहता है, इसकी उसे चिन्ता नहीं थी।

लेकिन समाज का हित सोचने वाले, समाज-धर्म की मीमांसा करनेवाले, हम क्या कहते हैं ? क्या हम न्यायाधीश

के साथ सहमत होकर कहें कि पिता ने जो किया सो अनुचित किया? या पिता के हृदय में प्रवेश होकर कहें कि प्रेम-धर्म, सेवा-धर्म और समाज-धर्म, समझने वाला दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। पिता ने किया सो योग्य ही किया।

उन दिनों अखबारों में जब इस किस्से के बारे में मैंने पढ़ा तब मेरे मन में जोरों से 'भवति न भवति' चली। एक विचार मन में आया :

पिता ने जो कुछ किया, तीस वर्ष तक लड़की की सेवा की, उसमें सबसे प्रधान भाव उत्तरदायित्व का था। 'मैंने जिस जीव को जन्म दिया, उसकी सेवा करना मेरा धर्म है।' पितृ-प्रेम का हिस्सा भी उनमें था, लेकिन क्या जो स्वयं पिता नहीं है, ऐसे लोग केवल मनुष्य-प्रेम के कारण और सामाजिक उत्तरदायित्व के ख्याल से उस पिता के जैसी सेवा नहीं कर सकते? हमने माना कि लाखों में इस तरह से सेवा करने वाला एक भी परोपकारी आदमी नहीं मिलेगा। लेकिन हरएक देश में, हर-एक समाज में, हरएक धर्म में ऐसे साधु-सन्त पैदा हुए हैं, जो केवल शुद्ध प्रेम से इस पिता से भी अधिक सेवा कर सके हैं। पिता ने अपनी लड़की का सारा किस्सा समाज के सामने और धर्मपरायण लोगों के सामने क्यों न रक्खा? जिसने स्वयं लोकोत्तर सेवा की, वह मनुष्य-हृदय के बारे में इतना नास्तिक क्यों हुआ? उसने क्यों माना कि उसका समानधर्मा दुनिया में एक भी मिलने वाला नहीं है?

मन में यह विचार उठा तो सही, लेकिन मन में दूसरा भी विचार छाया कि स्वस्थ स्थिति में इस तरह से आदर्श-निर्णय की बात सोचना आसान है। पिता की जगह हम होते तो क्या करते, यह भी तो एक सवाल है। उसने अन्तिम और अपरि-

हार्य सेवा के रूप में अपनी लड़की को जो मरण-दान दिया, उसके काजी हम नहीं बन सकते।

मनुष्य स्वयं अपनी सारी हालत सोचकर गम्भीरता-पूर्वक मरण की इच्छा करे और स्वेच्छा-मरण उसके लिए शक्य न हो तो उसकी प्रार्थना पर उसे मरण-दान किस हालत में दिया जा सकता है, यही सोचने का मुख्य विचार है।

और उसके साथ यह भी सोचना पड़ेगा कि अन्तिम निर्णय करने की सत्ता किसे हो? शायद जीवन-शास्त्र में पारंगत कोई तबीबी आदमी, उच्चकोटि का डाक्टर, कानून को जानने वाला कोई अच्छा न्यायाधीश, सामाजिक धर्म और अध्यात्म को पहचानने वाला कोई धर्मपरायण व्यक्ति और मरीज या आतुर के निकट के प्रेमी और सम्बन्धी, ऐसे लोगों की एक समिति बनाकर उनकी राय से निर्णय करना ठीक होगा।

मरण-दान के प्रसंग समाज में विरले होते हैं। इसलिए ऐसी समिति भी खास किसी एक प्रसंग के लिए ही नियुक्त करनी पड़ेगी। ऐसे प्रसंग भले विरले हों, लेकिन उनका योग्य इलाज करने से मानवीय संस्कृति एक कदम आगे बढ़ेगी और जीवन-मरण के बारे में आज जो अबुद्धि का राज चलता है, वह दूर होगा।

अक्तूबर, १९५६

८ / अनायास मरण

स्वेच्छा-मरण और मरण-दान इन दो सवालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला तीसरा सवाल है अनायास मरण का।

सामान्य तौर पर माना जाता है कि मनुष्य हर तरह का दुःख सहन करके भी जीना ही पसन्द करता है; लेकिन ऐसे भी

लोग हैं, जिनका मन मरण के लिए हमेशा तैयार रहता है परन्तु वे शारीरिक वेदना सहन करने को तैयार नहीं होते। जैसे नींद आती है, वैसे ही अगर मरण आता हो, तो उन्हें तनिक भी एतराज नहीं होगा।

चन्द लोग कहते हैं, शरीर से प्राणों का अलग होना इतना कष्टकर नहीं है। मनुष्य को जो मृत्यु का भय रहता है, वह मानसिक होता है। जिसके द्वारा सुख-दुःख हो सकता है, जीवन का अनुभव और जीवन की साधना भी जिसके द्वारा होती आई, उस शरीर को छोड़ने के लिए मन तैयार नहीं होता। अपना अस्तित्व मिटाना यह कल्पना ही मनुष्य के लिए भयावह होती है। स्त्री-पुत्रादि सब इष्ट मित्रों को और सम्बन्धियों को छोड़ जाना यह भी उन्हें कष्टप्रद होता है। कई लोगों को अपनी सारी जायदाद छोड़ते प्राणान्तक दुःख होता है। जिन लोगों ने अपने जीवन-काल में कुछ महत्कार्य करने का संकल्प किया होता है, उनको अपना कार्य अधूरा छोड़कर जाते महद् दुःख होता है।

इस मानसिक दुःख की कोई दवा नहीं है। जो गीताधर्मी है, वेदान्त को जानता है, जिनके स्वभाव की बुनियाद में आस्तिकता है, उसे ऐसा मानसिक दुःख हो नहीं सकता। आत्मा अमर है, संकल्प-शक्ति सर्व-समर्थ है, जन्म-मरण की परम्परा चलती ही है, एक जन्म में जो न हुआ, उसे पूरा करने के लिए दूसरा जन्म मिलनेवाला ही है, इस तरह की जिसकी श्रद्धा है, उसे मानसिक दुःख होने का कोई कारण नहीं।

जिन व्यक्तियों को समाज की सनातनता पर विश्वास है, उन्हें यह आश्वासन जरूर होता है कि जो काम मुझसे नहीं हुआ, उसे सिद्ध करने वाले दूसरे लोग कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी उत्पन्न होंगे ही। 'कालोह्ययम् निरवधिर् विपुला च

पृथ्वी।'

और जो लोग मानते हैं कि यह सारी जिन्दगी और दुनिया का सब व्यापार केवल एक खेल है और वह भी निष्प्रयोजन और निःसार है, उनको भी शरीर को और दुनिया को छोड़ते मानसिक दुःख नहीं होना चाहिए।

अब रहा शरीर का दुःख यानी वेदना। उसे कम करना या बिल्कुल दूर करना मनुष्य के पुरुषार्थ का विषय है। जिसे जीना ही है वह अपरिहार्य वेदना सहन करेगा। जो वेदना कम हो सकती है, उसे कम करेगा। उसकी दोहरी शर्त होती है—मुझे जिलाओ भी और मेरा दुःख भी दूर करो। लेकिन जहां मरण की तैयारी है, वहां मरण लेते-देते शर्त एक ही है कि हो सके तो वेदना दूर करो। मरण के आयास टालने की क्रिया को अंग्रेजी में 'युथेनेशिया' कहते हैं। हम उसे अनायास मरण कहते हैं। मरण के अनायास प्रकार प्राचीन काल से मनुष्य ने ढूंढ़े हैं।

रोमन बादशाहों के दिनों में जब बादशाह किसी बड़ आदमी से नाराज होता था और उसे देहान्त शासन करना चाहता, तब उसे पकड़कर मार डालने का अशिष्ट प्रकार टालना वह पसन्द करता था। कहला भेजा कि बादशाह ने तुम्हें मरण की सजा दी है। उसके बाद वह आदमी स्वयं ही अनुकूल ढंग से मर लेता था। रोमन सम्राट नीरो ने अपने वृद्ध प्रमुख प्रधान सेनेका को मृत्यु-दण्ड सुनाया। सेनेका ने बादशाह को सन्देश भेजा कि मेरी सारी जायदाद आप ले लीजिए और मुझे निवृत्ति में रहने दीजिए। बादशाह ने नहीं माना।

उन दिनों मरने का आसान तरीका था, अपनी नस काटकर खून बहाने का। खून बहते-बहते आदमी बेहोश हो जाता है और बिना किसी वेदना के जीवन समाप्त हो जाता है। सेनेका

ने अपनी नस कटवाई। लेकिन वृद्ध शरीर से खून निकला ही नहीं। फिर वह गरम पानी में जा बैठा। तब खून बहने लगा और यथासमय सेनेका का प्राणान्त हो गया। सेनेका बड़ा तत्वज्ञानी था। उसके ज्ञानवचन आज भी सारी दुनिया पढ़ती है।

आज जब चोरफाड़ का नश्तर लगाने की विद्या ने असाधारण प्रगति की है, आदमी को बेहोश करने की अथवा शरीर का कोई खास हिस्सा वधिर करने की तरकीबें भी मनुष्य के हाथ में आई हैं। इसलिए स्वेच्छा-मरण का और मरण-दान का अधिकार और कर्तव्य अगर मान लिया तो अनायास मरण का रास्ता अब सुलभ है।

लेकिन चन्द लोग कहते हैं कि मृत्यु के क्षण चित्त जाग्रत रहे और परलोक के लिए आवश्यक तैयारी करे, यह जरूरी है। स्वेच्छा-मरण में यह भी हो सकता है। मनुष्य अपनी पूरी तैयारी कर ले, वसीयतनामा करना हो तो वह करे; जिन्हें खत लिखने हों, लिखें, जिनसे विदाई लेनी हो, ले, प्रार्थना ध्यान करना हो वह भी करें, और फिर सुन्दर ढंग से मृत्यु को आलिंगन दें। मृत्यु भी तो एक सुन्दर चीज है। उसकी अपनी लज्जत होती है। धूप या कपूर जिस तरह जलकर समाप्त होते समय सर्वत्र सुगन्ध फैलाता है, उस तरह सज्जनों की मृत्यु भी प्रसन्न, मंगल और सुवासित होनी चाहिए। संगीत की लय जैसी मधुर होती है और पीछे आनन्ददायी स्मृति छोड़ती है, वैसे ही जीवन की लय को भी हम संगीतमय, आह्लादमय और परम शान्ति-युक्त बना सकते हैं। मानवीय संस्कृति का यह आवश्यक अंग है। जीवन-लंपट संस्कृति अधूरी संस्कृति है। मरण तो जीवन की कृतार्थता ही है, इतना समझने वाली संस्कृति अब शुरू होनी चाहिए।

अक्तूबर, १९५६

९ / आत्म-रक्षा के लिए मरण

शायद खलील जिब्रान का यह वचन है—"एक आदमी ने आत्मरक्षा के हेतु खुदकुशी की, आत्महत्या की।" वचन सुनते ही विचित्र-सा लगता है।

अपने शरीर पर अत्याचार न हो, इस उद्देश्य से राजपूत और अन्य कन्याओं ने कई दफे जौहर किया है और सिद्ध किया है कि आत्मरक्षा प्राणरक्षा से भी श्रेष्ठ है।

विक्टर ह्यूगो के विशालकाय उपन्यास में क्षमावृत्ति का प्रतिनिधि है रोशनदान का दान करनेवाला बिशप और उसका शिष्य है वह चोर, जो सारी कथा का नायक है। इसके विरुद्ध न्याय को ही सार्वभौम जीवन-सिद्धान्त मानने वाले और सजा तथा बदले की उपासना करनेवाले पक्ष का प्रतिनिधि है पुलिस-विभाग का अधिपति। उस कथा में ऐसा प्रसंग आता है कि पुलिस थाने के अधिपति को न्याय का पक्ष छोड़कर उदारता और क्षमा का पक्ष मान्य किये बिना चारा ही नहीं। उस निष्ठावान हाकिम ने सोचा—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'। और 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' कह करके उसने आत्महत्या कर ली। यहाँ भी हम कह सकते हैं कि प्राणों का त्याग करके उसने आत्मरक्षा की। जब गीता कहती है...'संभावितस्य चाकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते'—तब भी आत्मरक्षा के लिए मरण को स्वीकार करने की ही बात सूचित होती है।

जब मनुष्य देखता है कि विशिष्ट परिस्थिति में जीना है तो हीन स्थिति और हीन विचार या सिद्धान्त मान्य रखना जरूरी है, तब श्रेष्ठ पुरुष कहता है कि जीने से नहीं, मर कर ही आत्म-

रक्षा होती है। तब मनुष्य उस रास्ते को मंजूर रखता है। उसी को हम आस्तिक कहते हैं।

जनवरी, १६६१

१० / मरण की तैयारी

जीवन और मरण मिलकर के विशाल जीवन-संस्था बनती है। बारह घण्टे का दिन और बारह घण्टे की रात मिलकर जिस तरह चौबीस घण्टे का अहोरात्रवाला दिन बनता है, उसी तरह का यह शब्द-प्रयोग है।

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मिलकर मास होता है। परिश्रम और आराम मिलकर प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मिलकर जीवन-साधना बनती है। मौन और वाणी मिलकर मानवीय सम्पर्क बनता है। प्रयोग और चिंतन मिलकर ज्ञानवृद्धि होती है। जाग्रति और नींद मिलकर शारीरिक व्यापार सफल बनता है। श्वास और उच्छ्वास मिलकर प्राणों का व्यापार चलता है। इसी तरह जीवन और मरण दोनों की युगल रचना है।

इनमें से हमारा ध्यान जीवन पर केन्द्रित रहता है, इसलिए मरण के बारे में हम अनभिज्ञ और घबड़ाये हुए रहते हैं। ऐसा नहीं होता तो जिस आस्था से, पुरुषार्थ से और कौशल से, हम जीवन की तैयारी करते हैं, उसी उत्कटता से हम मरण की भी तैयारी करते।

यह बात सही है कि मृत्यु के बाद क्या है, इसके बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते ; लेकिन हमने जीवन में कहां से किस तरह प्रवेश किया, सो भी तो हम नहीं जानते। मरण के लिए तैयारी करना जितना आसान और स्ववश है,

उतना शायद जीवन-प्रवेश की तैयारी करना आसान नहीं है। पता नहीं, कैसे हम यकायक जीवन में प्रवेश करते हैं। इसी तरह पता नहीं, कैसे मृत्यु हमें एक क्षण में घेर लेती है।

यह हुआ स्थूल दृष्टि का वचन। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अपने सुदीर्घ जीवन में हम बराबर ढूंढ़ सकते हैं कि हमारी मरण-यात्रा कब, मृत्यु कैसे शुरू हुई, किस वेग से चली और कैसे उसकी परिसमाप्ति हुई। जिस तरह शुक्लपक्ष में केवल प्रकाश नहीं होता और कृष्णपक्ष में अन्धेरा-ही-अन्धेरा नहीं होता, उसी तरह हमारे जीवन में मरण की बुनाई धीरे-धीरे बढ़ते देख सकते हैं।

कठोपनिषद के यमराज कहते हैं कि मरण के बाद मनुष्य यथाकर्म, यथाश्रुतम और यथाप्रज्ञा नए जीवन में प्रवेश करता है। इस जावन में हम जैसे कर्म करते हैं, प्रयोग और चिंतन के द्वारा जैसे-जैसे अनुभव और ज्ञान बढ़ाते हैं और इस विश्व-संस्था को और जीवन-संस्था को समझने को प्रज्ञा बढ़ाते हैं उसी तरह का नया जन्म हमें मिलता है।

दूसरी दृष्टि से सोचा जाय तो जैसी पैतृक परम्परा हो, वैसा जीवन हमें मिलता है। मां-बाप की जीवन-सिद्धि या असिद्धि और उनके संकल्प के निचोड़ के अनुसार हमें जन्म मिलता है। उनके शरीर के परमाणु से हमारा शरीर बनता है। ऐसे शरीर में जीवात्मा के रूप में जब हम प्रकट होते हैं तो हम अपनी पूर्वजन्म की साररूप पूंजी साथ लेकर आते हैं। उसके बाद इस दुनिया की आबोहवा से और पार्थिव तत्वों से हमें पोषण मिलता है। आस-पास के समाज से हमें तरह-तरह के संस्कार मिलते हैं। हमें चाहनेवाले और न चाहनेवाले सम्बन्धित लोगों के जीवन में हम तरह-तरह के प्रयोग करते, जीवन जीते अथवा जीवन-लीला का अनुभव करते हैं।

ऐसी जीवन-साधना में अगर हम केवल जीवन-विस्तार का ही ध्यान करें और जीवन समेटने की कुछ भी तैयारी न करें तो वह अशिक्षित जीवन होगा, अधूरी साधना होगी और उसमें से ऐसे क्लेश पैदा होंगे, जिन्हें हम आसानी से टाल नहीं सकते।

सुबह उठते हम खाने की तैयारी करते हैं। दिनभर की प्रवृत्तियां चलाते हैं। लेकिन जब दिन का प्रकाश कम होता है, रात नजदीक आती है, थकान बढ़ती है, तब हम बड़ी ही उत्कण्ठा से रात के विश्राम और नींद की तैयारी करने लगते हैं। छोटे बच्चों को जब नींद आती है, तब जहां हैं, वहीं पर गिर जाते हैं और नींद में डूब जाते हैं। अपने खिलौने दूसरे दिन के लिए व्यवस्थित रखना, दिन के कपड़े बदलना, बिस्तरा तैयार करना और भगवान का नाम लेकर रजाई के नीचे सो जाना आदि तैयारी उनके ध्यान में नहीं आती। बच्चे जो ठहरे! किसी भी चीज़ की तैयारी उनके विचार में नहीं होती।

यही हालत है हमारी मृत्यु के बारे में। मनुष्य ने सोच-सोचकर एक ही बात सीख ली है कि अपनी मृत्यु के पश्चात अपनी जायदाद की अव्यवस्था न हो, इसलिए मृत्युपत्र यानी वसीयतनामा लिखकर रखना। इस बारे में भी हमारे लोगों में वसीयतनामा बनाने का आलस्य ही पाया जाता है। अरुचि भी दीख पड़ती है। उधर प्राचीन रोमन-समाज का ख्याल था कि वसीयतनामा नहीं करना और ऐसे ही मर जाना असंस्कारिता का लक्षण है। ऐसे आदमी की समाज में निन्दा होती थी। कई लोग हर साल नया अद्यतन वसीयतनामा बना-कर पुराना रद्द करते थे।

अगर निजी जायदाद रखनी है तो वसीयतनामा बनाना

आवश्यक चीज़ है। लेकिन मरण की जिस तैयारी की हम बात करते हैं, उसमें इस चोज का महत्व बहुत कम है। वसीयत-नामा बनाने से पीछे रहनेवाले लोगों को आसानी होती है। अपने को तो मनमानी व्यवस्था करने का सन्तोष ही मिलता है।

जिस उत्साह से और दीर्घदृष्टि से योजनापूर्वक हम जीवन-प्रवृत्ति का विकास करते हैं, उतनी ही पारमार्थिक दृष्टि से हमें मरण की तैयारी करनी चाहिए। ऐसी तैयारी के चन्द मुद्दों का हम विचार करें।

सबसे पहले हमारी जीवन-संगिनी काया का ही विचार करें।

जीवन के पुरुषार्थ और पराक्रम के लिए हम शरीर-शक्ति को बढ़ाते हैं। हमारा आहार धीमे-धीमे बढ़ता है। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। उसके साथ महत्वाकांक्षा बढ़ती है, सहयोग शक्ति भी बढ़ती है। जब जीवन की उत्तरावस्था शुरू होती है, चढ़ती कमान उतरने लगती है, जीवनसंध्या का प्रारम्भ होने लगता है, तब धीरे-धीरे आहार कम करना चाहिए। हजम होने में कठिन ऐसे दुर्जर पदार्थों का खाना छोड़ देना चाहिए। सोने के पहले शाम का खाना हजम हो जाय, इसका भो ध्यान रखना चाहिए। रात को देरी से खाने से नींद भारी हो जाती है।

शरीर का वजन कुछ हल्का होना चाहिए। मनुष्य को सोचना चाहिए कि खाने के दिन थे, तब बहुत खाया, अब तो जिह्वालौल्य कम करना चाहिए। शरीर के लिए जितना जरूरी है, उतना ही खाना अच्छा। जिन चीजों को बनाने में काफ़ी तकलीफ उठानी पड़ती है, ऐसी चीजों का खाना भी छोड़ देना चाहिए।

जैसे-जैसे पुरुषार्थ कम होता है, वैसे-वैसे उपभोग भी कम करते जाना, यह जीने का अच्छा नियम है।

नींद के बारे में कोई एक नियम नहीं हो सकता। चन्द लोगों की नींद कम होती है, चन्द लोगों की बढ़ती है। नींद पर अत्याचार किये बिना नींद का प्रमाण कम करना चाहिए। जितना कम हो सके, उतना अच्छा। आहार कम हुआ तो नींद की मात्रा भी कम होनी अच्छी। बुढ़ापा ज्यादातर चिंतन के लिए है। परिश्रम कम होने के कारण भी खाली समय ज्यादा मिलता है। वह सारा समय चिंतन की ओर लगाना चाहिए। मन का व्यापार तो हमेशा चलता ही रहता है। अगर गंभीर चिंतन की ओर वह न लगाया तो बुढ़ापे में फिक्र-चिंता ही बढ़ती है या तुच्छ बातें याद करके मन उसी की जुगाली करने लगता है। जीवन के अनुभव में जो बातें उच्च, उदात्त पाई गईं, उनका स्मरण करके शांत और प्रसन्न रहना चाहिए। और साथ-साथ मानव-जाति का दुःख दूर करने के तरीके ढूंढ़ने में मन को लगाना चाहिए। निवृत्ति के दिनों में मन के कई पक्षपात दूर होते हैं, सर्वहित का चिंतन बढ़ सकता है और दीर्घकाल के अनुभव के कारण विचार भी परिपक्व होते हैं। इसलिए बुढ़ापे में चिंतन की आदत बढ़ानी चाहिए।

जब बुढ़ापा दर्शन देता है, तब मनुष्य को चाहिए कि वह अपना लेन-देन कम करे। अगर किसी से कर्जा लिया है तो वह तुरन्त दे देना चाहिए। किसी के एहसान में हैं, तो उऋण हो जाना चाहिए। किसी के मन में हमने मदद की अपेक्षा उत्पन्न की है तो समय पर वह दे देनी चाहिए। सिर पर कर्ज का बोझ रखकर जो चला जाता है, उसके लिए मोक्ष नहीं है। सन्यास लेकर कर्ज-मुक्त होने का तरीका जब लोग आजमाने लगे, तब धर्माचार्यों ने नियम बनाया कि जो कर्जदार है, उसे

सन्यास लेने का अधिकार ही नहीं है।

चन्द लोग मृत्यु का स्मरण होते ही मायूस और दुःखी बनते हैं। सच देखा जाय तो इसके लिए कोई योग्य कारण है नहीं। सारी दुनिया का ठेका लेकर तो हम नहीं आये। जिस तरह दूर-दूर के देशों की और समाजों की चिन्ता हम नहीं करते, उसी तरह भविष्य काल के वारे में भी हमें तटस्थ बनना चाहिए। अपने चिन्तन के फलस्वरूप जो विचार मन में आये या सलाह देने योग्य कुछ सूझे, उसे दुनिया के सामने धरकर सन्तोष मानना चाहिए। जिस तरह अपने जमाने में हमने पुरुषार्थं किया और समाज की प्रत्यक्ष सेवा की, उसी तरह नई पुश्त को अपने जमाने का कब्जा लेने का पूरा-पूरा अधिकार है। उनकी दुनिया उनके हाथ में सौंप कर हमें सन्तोष मानना चाहिए, और अलग होना चाहिए।

मोहवश होकर मनुष्य को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि अपने वाल-बच्चे और उनके बाल-बच्चे ही हमारी जायदाद के उत्तराधिकारी हैं या हमारे प्रेम के अधिकारी हैं। जिस विराट समाज में हम जिये और जिसके पुरुषार्थं से हमने लाभ उठाया वे सब हमारे प्रेम और सेवा के मुख्य अधिकारी हैं। कम-से-कम केवल अपने हित का ख्याल करके भी मनुष्यों को सोचना चाहिए कि घर के नौकर-चाकर अपने सच्चे परिवार हैं। उन्हीं की सेवा के कारण अन्तिम दिन आराम से गुजरने वाले हैं। उनको सन्तुष्ट रखने से, उनकी कठिनाइयां दूर करने से, आसपास प्रसन्नता का वातावरण रहता है।

और एक बात सोचने की है। बुढ़ापा जैसे बढ़ने लगता है, वैसे मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी प्रवृत्ति का विस्तार कम करता जाय। चीजें हाथ में से फिसल जायं, उसके पहले

ही उन्हें छोड़ देने से आराम रहता है और मानसिक शान्ति भी रहती है।

जिस तरह युवावस्था में मनुष्य पुरुषार्थ के नये-नये मौके ढूंढ़ता है उसी तरह बुढ़ापे में उसे चिन्तनपूर्वक मृत्यु की तैयारी करनी चाहिए। मृत्यु का चिन्तन हर तरह से आल्हादक और मुफ़ीद है। मृत्यु का स्मरण रहने से हमारे सब कार्य में योग्य प्रमाण संभाला जाता है।

जिस तरह घर में मेहमान आने पर हम उनका ख्याल रखते हैं और अपनी जिम्मेदारी याद रखकर गफ़लत नहीं होने देते, अथवा किसी के घर पर मेहमान होकर रहते हुए हम एक क्षण के लिए भी भूलते नहीं कि हम मेहमान हैं, घर मेजवान का है और उसके लिए बोझ-रूप या बाधा-रूप नहीं बनना है, इसी तरह जब हम बुढ़ापे में मृत्यु के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं, तब हमें सोचना चाहिए कि अब हम काल भगवान के राज में दूर तक पहुंच गए। अब उन्हीं की हुकूमत में उनके कानून के अनुसार रहने से हर तरह का आराम रहेगा। जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वेदान्त विद्या का जिन्होंने अध्ययन किया है, उनके लिए तो यह दृष्टि हर अवस्था में रहती है। अमर आत्मा का उनका चिन्तन कभी ढीला नहीं होता। उसी तरह जीवन में मृत्यु का साक्षात्कार भी ध्रुव है, यह बात वे कभी नहीं भूलते। उनकी तैयारी हमेशा होती है। किसी ने ज्ञानेश्वर से कहा, 'म्हातारपणी भक्ति करूं ?' उन्होंने फ़ौरन प्रश्न पूछा, 'आयुष्य काय तुझें आज्ञा धारूं, ?' ('बुढ़ापा आने पर भगवान की भक्ति करेंगे,' ऐसा कहने वाले से योगीराज ज्ञानेश पूछते हैं, "क्या आयु-मर्यादा तुम्हारी आज्ञाकारी सेवक है ?')

यह तो हुई सतर्क तत्त्वदर्शी की बात। नित्य के व्यवहार में

फंसे हुए लोग बुढ़ापा आने पर भी मृत्यु का चिन्तन नहीं करते। इसलिए धर्मराज ने कहा कि अनादि काल से सब-के-सब प्राणी मरते हुए पाये जाते हैं। फिर भी हर एक प्राणी अपने को अमर ही मानता है। मृत्यु का भान मन में ही नहीं आने देता। इससे बढ़कर आश्चर्य कौनसा होगा?

मृत्यु की तैयारी की सूचना देते हुए कवि ने दो बातें बताई हैं। धन कमाते समय या ज्ञान कमाते समय मनुष्य को मृत्यु का चिन्तन नहीं करना चाहिए। हम अजर-अमर हैं, ऐसा सोचकर समाज के लिए धर्म की, और ज्ञान की पूंजी बढ़ाते जाना चाहिए। लेकिन कर्तव्याचरण में शिथिलता न हो, धर्म-पालन में गफलत न हो, इसलिए हमेशा याद रखना चाहिए कि मृत्यु किसी भी समय आ सकती है।

यह तो हुई व्यवहार की शुद्ध दृष्टि। लेकिन जिस तरह जमीन पर चलते, पानी में तैरते या आकाश में उड़ते समय हम पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को नहीं भूलते, उसी तरह हमेशा और खास करके बुढ़ापे में, मृत्यु का स्मरण जाग्रत रखना चाहिए। मरण का स्मरण ही है व्यापक जीवन की सुन्दर साधना। इससे मानसिक आरोग्य मजबूत बनता है, चित्त को शांति रहती है, हृदय प्रफुल्लित रहता है और जीवन अपने लिए और समाज के लिए आशीर्वाद रूप बनता है।

दिसम्बर, १९५६

११ / मृत्यु का रहस्य

जिस तरह दिवस और रात्रि मिलकर २४ घंटे का दिन बनता है, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मिलकर महीना बनता है, उसी तरह जीवन और मरण मिलकर जिन्दगी यानी व्यापक

जीवन बनता है। दिवस रात्र की या उभयपक्ष की उपमा कइयों को नहीं जंचेगी। वे कहेंगे कि अहोरात्र १२-१२ घंटे के समान होते हैं। शुक्ल-कृष्णपक्ष १५-१५ दिन के होते हैं। जीवन-मरण का वैसा नहीं है। जीवन दीर्घकाल पर फैला हुआ, तना हुआ होता है। मृत्यु एक क्षण की चीज है। आखिरी सांस ले ली और जीना समाप्त हुआ। मृत्यु क्षणिक है। उसकी तुला या तुलना जीवन से कैसे हो सकती है?

लोग कहते हैं, शुक्लपक्ष में प्रकाश होता है, कृष्णपक्ष में अंधेरा। क्या यह बात सही है? लोग कहते हैं, दिन सफेद होता है, रात काली। क्या यह बात भी शुद्ध सत्य है?

जिसे हम १२ घंटे की रात कहते हैं, उसके प्रारम्भ में और अन्त में संध्या-प्रकाश होता ही है।

पूर्णिमा की रात्रि सारी प्रकाशित होती है। अमावस्या की रात्रि को चन्द्रिका का अभाव रहता है। लेकिन बाकी के दिनों में प्रकाश और अंधकार दोनों को कमोवेश स्थान है। हम इतना कह सकते हैं कि शुक्लपक्ष में शाम को चन्द्राकाश पाया जाता है कृष्णपक्ष में शाम को चन्द्र का दर्शन नहीं होता। बाकी दोनों पक्षों में प्रकाश और अंधेरा दोनों होते हैं।

हमारी जिन्दगी में भी मृत्यु के बाद हमारे उसी जीवन का उत्तरार्द्ध शुरू होता है, जो पूर्वार्द्ध की अपेक्षा व्यापक और दीर्घकालिक होता है।

मनुष्य के मरण के बाद वह अपने समाज में जीवित रहता है। किसी का समाज छोटा होता है, किसी का बड़ा। मनुष्य अपने जीवन में जो कर्म करता है, विचार प्रकट करता है, ध्यान चिंतन करता है, उसका असर उसके समाज पर ही होता है। चन्द बातों में मृत्यु के बाद यह असर ज्यादा होता है, मनुष्य ने अपने जीवन में जो-जो किया, समाज के साथ सह-

योग किया या उसकी सेवा की, उसकी भली-बुरी विरासत उसके समाज को मिलती है और इस तरह वह समाज पर असर करता रहता है। यह है उसका मरणत्तोर जीवन।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुंचती है। बुद्ध भगवान और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में हजारों बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए इन लोगों को हम दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं।

समूचे जीवन का विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का, पूर्व जीवन छोटा है, केवल तैयारी के जैसा है, सच्चा विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। मृत्यु के पहले का जीवन पुरुषार्थी होने के कारण उसका महत्व खूब है। मृत्यु के बाद का जीवन परिणाम रूप होने से व्यापक और दीर्घकालिक होता है। इसलिए उसका भी महत्व कम नहीं।

मृत्यु के बाद जो जीवन जीया जाता है, उसे हमारे धर्म ग्रन्थों में—उपनिषदों में नाम दिया है साम्पराय। जो लोग बच्चों के जैसे अज्ञान हैं, अंधे हैं, वे साम्पराय को नहीं देख सकते। 'न साम्परायः प्रतिभाति बालम् ।'

जो ज्ञानी है, जानकार है, वह मरणोत्तर जीवन को और उसके महत्व को पहचानता है। वह कहता है कि इतने बड़े महत्व के और सुदीर्घ साम्पराय को नुकसान पहुंचे, ऐसा कार्य मैं अपने जीवन में—पूर्ण तैयारी के काल में—नहीं करूँगा। बचपन में अगर क्षणिक उन्माद के कारण ब्रह्मचर्य को नष्ट किया तो मनुष्य का सारा-का-सारा गृहस्थाश्रम बिगड़ जाता है। इसलिए दीर्घदर्शी आत्महित समझने वाला कहता है कि गृहस्थाश्रम का पूरा आनन्द लेने के लिए ब्रह्मचर्य का पूर्वाश्रम मैं संयम से, शुद्ध रूप से, व्यतीत करूँगा।

मेधावी मनुष्य कहता है कि जिह्वालौल्य को क्षणमात्र तृप्त करने के लिए अगर मैं अपथ्य आहार या अति आहार करूंगा तो दीर्घकाल तक मुझे बीमार रहना पड़ेगा और मैं अरोग्यानन्द और जीवनानन्द से वंचित रहूंगा। इसलिए मैं अपथ्य सेवन नहीं करूंगा। संयम के द्वारा जो उत्कट जीवनानन्द प्राप्त होता है, उसी को लूंगा। मरणोत्तर जीवन का जिसे ख्याल है और जिसको इस बात की जाग्रति और और स्मृति रहती है, उसीका जीवन शुद्ध और समृद्ध होता है।

साम्पराय में स्थूल देहगत जीवन का अवकाश नहीं रहता। मनुष्य अपने समाज में ही जीवित रह सकता है और उस जीवन में उसका पुरुषार्थ अथवा प्रेरणामय जीवन बढ़ता ही जाता है। इस्लाम में एक सुन्दर कल्पना पाई जाती है। किसी मनुष्य ने मुसाफिर के लाभार्थ रास्ते के किनारे एक कुआं खोदा। उसके संकल्प और परिश्रम के अनुरूप इस शुभकर्म का (पूर्त का) उसे पुण्य मिला। अब दिन-पर-दिन जितने मुसाफिर उस कुंए से लाभ उठाते हैं, उतना इस आदमी का सबाब (पुण्य) जाता है। अगर यात्रियों का रास्ता बदल गया और लोगों ने इस रास्ते जाना छोड़ दिया तो पुण्यकारी का पुण्यसंचय ज्यादा नहीं बढ़ेगा। पुण्यकारी का सबाबमय जीवन—पुण्य-जीवन—बढ़े या घटे, समाज के हाथ में है। लोग अगर उसे याद करते रहे तो उसकी मरणोत्तर आयु दीर्घ होगी। लोग उसे भूल गए, उसके काम का असर मिट गया तो उसके साम्पराय की मियाद खत्म होगी।

अब सवाल यह आता है कि अगर मरण के बाद हमारा जीवन सामाजिक स्वरूप का ही रहनेवाला है तो मरणपूर्व के 'इस जीवन में' हम समान-जीवन ही व्यतीत क्यों न करें? स्वार्थवश संकुचित होकर और इन्द्रियवश होकर प्रमत्त जीवन,

असमाजी जीवन व्यतीत क्यों करें ? जिस तरह मरणोत्तर जीवन सामाजिक रहेगा, वैसा ही जीवन अगर मृत्युपूर्व व्यतीत किया तो मृत्यु के इस पार और उस पार एक ही प्रकार का शुभ जीवन होगा।

जिसे हम समाजवादी ढाँचा कहते हैं, वह हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक जीवन का बाह्यरूप है। जिसे हम सर्वोदयकारी पुण्य-जीवन कहते हैं, वह उसका आंतरिक स्वरूप होगा। वेदान्त ने उसे नाम दिया है—विश्वात्मैक्यभावना, भूमा-स्वरूप जीवन। आत्मौपम्य उसकी साधना है।

आत्मौपम्य की यह कल्पना कुछ स्पष्ट करनी चाहिए।

मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह आहार ढूंढ़ता है। आहार को प्राप्त करके उसका उपभोग करता है। यह हुआ प्राकृतिक जीवन। लोग इसे पशु-जीवन भी कहते हैं। लेकिन मेरे पेट में भूख की वेदना शुरू होते ही अगर मैं औरों की भूख का साक्षात्कार करूं और उनकी क्षुधा का निवारण करने का यत्न करूं तो वह धार्मिक जीवन हुआ। वह साम्पराय के लिए पोषक होगा। मैं जो कुछ भी पुरुषार्थ करूं, उसका लाभ सबको देने की अगर वृत्ति रही तो वह सर्वोदयकारी विश्वात्मैक्य प्रेरित ब्राह्मजीवन होगा। जो कुछ भी ज्ञान मैंने प्राप्त किया वह सबको दे दूं, सबका दुःख और संकट अपना ही मान लूं और सबके साथ जो मुझे मिले, उतना ही मेरा अधिकार है, ऐसा समझकर चलूं तो मृत्यु के इस पार का और उस पार का जीवन एकरूप होगा और यही है मृत्यु पर विजय।

एक साधु छोटी-सी झोंपड़ी में रहता था। हाथ-पांव फैलाकर आराम से सोता था। इतने में जोरों से बारिश आई। किसी ने बाहर से आवाज देकर पूछा, "मेरे लिए अन्दर जगह है?" साधु ने कहा, "अवश्य।" उसने अपने फैले हुए हाथ-

पांव समेट लिये और दोनों पास-पास सो गए। बारिश बढ़ी और दूसरे दो यात्री आये। उन्होंने पूछा, "जगह है ?" दोनों ने कहा, "अवश्य! आप अन्दर आइये।" अब दो के चार हो गए। झोंपड़ी में सोना अशक्य था। चार आदमी बैठकर बातें करने लगे और ऐसे ही रात व्यतीत करने का उन्होंने निश्चय किया। इतने में चार और आये। उनका भी इन चारों ने स्वागत किया। अब बैठना नामुमकिन हो गया। आठ-के-आठ झोंपड़ी में खड़े होकर भगवान का भजन करने लगे और बारिश से भगवान ने बचाया इसका आनन्द मानने लगे। यही है आत्मौपम्य। जो कुछ भी पाया, सबका है, सबके साथ सम-विभाग करके पाना है, यही है आत्मौपम्य का तरीका—आत्म-ऐक्य की साधना।

अब अगर ऐसी साधना हम करते रहें तो मृत्यु का डर नहीं रहेगा। मृत्यु भी जीवन-साधना का एक अंग ही है। सुख और दुःख, जीवन और मरण दोनों साधना रूप हैं। सुख और जीवन कुछ छिछले हैं। उनकी ज्ञानोपासना मंद होती है। दुःख, संकट, निराशा और मरण इनकी साधना गहरी होती है। इनके द्वारा जीवन का साक्षात्कार सम्पूर्ण होता है। इनकी ज्ञानोपासना तेज होती है। इसलिए साधना में इनका महत्व अधिक है।

अगर जिन्दगी में किसी को केवल दुःख-ही-दुःख मिला तो उसकी साधना बधिर हो जायगी, उसमें नास्तिकता आ जायगी। इसके विपरीत किसी के जीवन में अगर सुख-ही-सुख रहा हो तो उसका जीवन उथला होगा। उसका आत्मौपम्य टूट जायगा और उसका सफल-जीवन भी साधना की दृष्टि से विफल होगा। इसलिए अगर भगवान की कृपा रही तो सुख और दुःख, सफलता और विफलता दोनों हमें प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। मृत्यु के साक्षात्कार के द्वारा ही मनुष्य जीवन का

सर्वांगीण गहरा अनुभव कर सकता है।

अगर किसी साथी को अपने काम की पूर्व तैयारी में हम शरीक होने को बुलावें और फलभोग के समय उसे दूर करें ता उसे शिकायत करने का अधिकार रहेगा। यही न्याय है जीवन के बाद मरण के अधिकार का। किसो अंग्रेज ने सुन्दर शब्दों में कहा है—'मरण हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।' (इट इज अवर प्रिविलिज टु डाई) अगर भगवान किसी को मौत से वंचित रहने की सजा देगा तो मनुष्य के लिए जीना दुश्वार होगा। उसकी कमाई का फल उसे न मिले तो वह अन्याय होगा।

ईसाई लोगों के ग्रंथों में एक वचन हम पाते हैं—'पाप के फलस्वरूप मौत नाम की रोजी मिलती है।' (दी वेजिज़ ऑव सिन इज़ डैथ) सामान्य अर्थ में यह वचन गलत है। मरण तो सबके लिए अवश्यंभावी है। ईश्वर का वह प्रसाद है। जो पाप करते हैं वे ईश्वर के इस प्रसाद का सदुपयोग नहीं कर सकते। अध्यात्म-जाग्रति नष्ट होना ही मरण है, जिसका उक्त वाक्य में जिक्र है। पाप बढ़ने से मनुष्य की आत्मजाग्रति क्षीण होती है। उसका जीवन आत्मविमुख और देहात्मवादी होता है।

संतों और अवतारी पुरुषों ने मृत्यु पर विजय पाने की जो बात की है, वह यही है। मामूली मौत से न बुद्ध भगवान बच सके, न महावीर सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा, लेकिन उन्होंने आत्मनाश रूपी मृत्यु पर विजय पाई। इसी को वे ढूंढ़ते थे।

सामान्य जनता मृत्यु से इतनी घबराई हुई, डरी हुई, रहती है कि मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझना, उसके लिए कठिन होता है। समझाने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते, नहीं तो मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। उसके घर आये हुए किसी को निराशा नहीं हुई।

येथें नाहीं झाली कुणाची निराश
आल्या याचकास कृपेविशीं ॥

—यहां, इनके पास आये हुए किसी भी याचक की, कृपा के बारे में, निराशा नहीं हुई है।

मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए।

हम मानते हैं कि मनुष्य, मृत्यु के बाद, अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। अगर किसी क्रूर आदमी का देहान्त हुआ तो शायद उसे शेर या भेड़िये का जन्म मिलेगा। वहां वह अपनी क्रूरता पूरी तरह से आजमायगा।

अब अगर उस असली क्रूर मनुष्य का लड़का पिता का श्राद्ध करता है और उसे पिंड देता है तो वह किसको खिलाता है? उस शेर को, जो क्रूर आदमी का नया जीवन है? उस शेर की तृप्ति तो माँस से ही हो सकेगी। उस शेर को खिलाना, उसके पांव संवहन करना (पगचंपी करना) पुत्र का धर्म नहीं है। उस क्रूर आदमी का पुत्र जब पिता का श्राद्ध करता है तब वह उसके मनुष्य जीवन के मरणोत्तर विभाग को, उसके समाजगत जीवन को पुष्ट करने की कोशिश करता है। पिता के व्याघ्र जीवन से उसे मतलब नहीं है। जब किसी सज्जन के जीवन की प्रेरणा समाज हजम कर लेता है। पूरी-पूरी हजम करके समाज ऊंचा चढ़ता है, तब उस सज्जन का मरणोत्तर जीवन सम्पूर्ण हुआ, कृतार्थ हुआ, अनन्त में विलीन हुआ। यही है सच्चा मोक्षानन्द या ब्रह्मानन्द।

एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव—कीमती अनुभव—मिला उसे लेकर हम नये ताजे जीवन में प्रवेश करते हैं।

एक मुमुक्षु भारतीय परदेश गया। वहां उसने तिजारत

करके अपने व्यापार का बड़ा विस्तार किया, लेकिन बूढ़ा होने पर जब उसका वहां का आकर्षण कम हो गया और स्वदेश आने की इच्छा हुई, तब उसने वहां की सारी प्रवृत्ति समेट ली। देना-पावना चुका दिया और अपनी सारी कमाई इकट्ठी करके वह भारत लौटा। मृत्यु का भी वैसा ही है। जब प्रवृत्ति अनहद बढ़ती है और साधना के तौर पर काम नहीं आती, तब उसका सारा फल इकट्ठा करके नये जन्म की नई प्रवृत्ति, नई साधना मनुष्य शुरू करता है। इसे एक तरह से मृत्यु कह सकते हैं। लेकिन इसके लिए दुःख नहीं करते। एक स्थान छोड़ने का मामूली अल्पकालीन दुःख जरूर रहता है, लेकिन वह किसी को रोकता नहीं।

जेल में रहते वहां के कई लोगों से परिचय होता है। कुछ स्नेह-सम्बन्ध भी बन जाता है। जेल से निकलते, विदाई के समय दुःख भी होता है। लेकिन जेल से मुक्ति पाने का आनन्द उससे कम नहीं होता। इहलोक का जीवन पूरा करते मृत्यु का जो दुःख होता है—मरने वाले को और औरों को—वह ऐसा ही होना चाहिए।

अप्रैल, १९५७

१२ / नचिकेता की श्रद्धा से

श्री रामकृष्ण परमहंस ने कालीमाता से उसका रहस्य पूछा, "माता ! तुम सचमुच हो या नहीं ?" माता का रहस्य समझने के लिए उन्होंने रो-रोकर दिन बिताये। अन्त में उन्हें माता का रहस्य मिल गया। उन्हें शान्ति मिली। उनके पहले भी कई भक्तों ने इसी तरह रहस्य पाने की साधना की होगी, लेकिन एक की साधना दूसरे की मदद में नहीं आती। रास्ते

का कुछ ख्याल मिलता है सही लेकिन साधना तो हरेक को अपने ही ढंग से करनी पड़ती है। और किसी का ढंग काम नहीं आता।

युवा नचिकेता ने प्रत्यक्ष मृत्यु के घर पर जाकर उसी से मौत का रहस्य पूछा और यमराज ने उसकी श्रद्धा-निष्ठा देख कर अपना सारा रहस्य उसे समझाया। हजारों वरस हुए, देश-परदेश के असंख्य लोग श्रद्धा से वह पढ़ते हैं और उन पर मनन करते हैं। यमराज ने कहा कि शरीर के नाश के साथ बहुत-सी चीजें चली जाती हैं; लेकिन आत्मा रहती है। और मनुष्य का जैसा कर्म, जैसा उसका ज्ञान और जैसी उसकी प्रज्ञा होती है वैसा ही उसे नया जन्म मिलता है।

यथाकर्म, यथाश्रुतम्, यथाप्रज्ञा, वह नये जन्म में अपनी साधना आगे चलाता ही है। इतना स्पष्ट होते हुए हरेक व्यक्ति को मृत्यु का रहस्य समझने के लिए अपनी स्वतन्त्र साधना करनी पड़ती है और उस साधना के लिए जीवन की कीमत देनी पड़ती है।

जीवन पर जब मनुष्य चलते हैं तब धीरे-धीरे वहां पगडण्डी बनती है। जानवर या गाड़ियां जाती हैं, तब भी वहां रास्ते बनते हैं। लेकिन जब आकाश में पक्षी—और अब आकाशयान—जाते हैं तब उनके रास्ते की निशानी कहीं भी नहीं रहती। अध्यात्म-साधना की बात ऐसी ही है। इसकी पगडण्डी भी नहीं पड़ती। हरेक को अपना रास्ता नये ही सिरे से खोज निकालना पड़ता है।

मृत्यु के रहस्य का भी वैसा ही है। प्राचीनकाल से लेकर मॉरिस मेटरलिंक या बर्ट्रांड रसेल तक हरएक ने अपने-अपने ढंग से उसके बारे में सोचा है, उसकी विचिकित्सा भी की है, लेकिन मृत्यु का धर्म अति सूक्ष्म, अणु और अज्ञेय है।

भारतीय जाति की श्रद्धा इस बात पर अटल है कि मृत्यु के साथ जीवन खत्म नहीं होता। मृत्यु के बाद भी जीवन किसी न-किसी रूप में चलता ही रहता है। इस चलनेवाले, स्थायी तत्त्व को हम आत्मा कहते हैं।

हम क्यों मानें कि आत्मा अचल और स्थिर तत्त्व है? वह विभु है, अमर है, अजर है। सदा के लिए सनातन तत्त्व है। वह अनन्त है। लेकिन इसके मानी यह नहीं कि जिसका अन्त नहीं, वह गतिरूप न हो। काल अनन्त है। लेकिन वह बहता ही रहता है। कर्म का कानून सार्वभौम है। इसीलिए उसके लिए आदि-अन्त हो नहीं सकते। कार्यकारण भाव चलता ही रहता है। उसके लिए आदि या अन्त की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इसी तरह जीवन भी सनातन है और मृत्यु ही एक ऐसा तत्त्व है, जो देहली-दीप न्याय से इस ओर भी देख सकता है और उस ओर भी। यही कारण है कि कुदरत ने मनुष्य को जीवन के एक अंक के पूरे होने के बाद मृत्यु का अनुभव करने की सहूलियत रखी है।

इसीलिए मृत्यु का दुरुपयोग करना जीवन-साधना में बड़ी बाधा उत्पन्न करना है।

दुनिया मृत्यु से इतनी घबराई हुई है कि मृत्यु का परिचय पाने के लिए, उसका रहस्य सुलझाने के लिए जितना चिन्तन-मनन आवश्यक है, मनुष्य जाति ने किया ही नहीं। यह चिन्तन-मनन का भय और आकर्षण दोनों आसान तो हैं। मृत्यु निकल जाने के बाद ही मनुष्य इस चिन्तन के योग्य होता है। बुद्ध भगवान ने मरने की इच्छा को विभवतृष्णा कहा है और उसका निषेध किया है।

मनु भगवान ने मृत्यु के प्रति तटस्थभाव रखने की नसीहत देते हुए कहा है:

नाभिनन्देत मरणम् नाभिनन्देत जीवितम्

प्राचीन और अर्वाचीन जीवनाचार्यों के वचनों से लाभ उठाकर स्वस्थ चित्त से मरण का रहस्य नचिकेता की श्रद्धा से ढूंढ़ना चाहिए। उसके बाद ही दुनिया में मरणभय से जो महा-पाप किये जाते हैं और युद्धरूपी ताण्डव लीला चलती है, उन्हें शान्त करने का रास्ता मिलेगा।

जून, १६५८

१३ मरण का साहचर्य

किसी आदमी ने कर्ज लिया। आसानी से मिला, इसलिए ज्यादा लिया और खर्चा करते कोई संकोच नहीं रखा। बाद में देखा कि कर्जा चुकाने की ताकत या गुंजाइश है नहीं। दिनरात कर्जे की चिन्ता इतनी बढ़ी कि नींद हराम हो गई। कर्जा चुकाने का कोई रास्ता जब न दीख पड़ा, तब उसने अपना रुख ही बदल दिया। सिर पर कर्जा है, यह बात ही भूलने की कोशिश उसने की। उसी में आसानी थी। कर्जे की बात ही ध्यान से बाहर रहने लगी। अब अगर किसी ने, खास करके उसके हिसाबनवीस ने, कर्जे का स्मरण कराया तो बड़ा नाराज होता था। कर्जे का जिक्र तो क्या, स्मरण भी टालना, यही उसकी जीने की तरकीब हो गई।

भूल जाने से जिस तरह कर्जा टलता तो नहीं, उसी तरह मनुष्य अपने मरण की बात चाहे जितनी भूलने की कोशिश करे, मरण टलता ही नहीं। लोग कहते हैं, 'कर्जा और मौत दोनों की यात्रा दिनरात चलती ही रहती है।

मरण की बात, मरण का स्मरण, टालने से मनुष्य ने कभी कुछ नहीं पाया, बहुत-कुछ खोया है। मरण का स्मरण अगर

उत्कट रीति से जाग्रत रहे तो मनुष्य बहुत-कुछ गलतियों से और गुनाहों से अपने को बचा सकेगा। उसके जीवन में गहराई आयगी। फिजूल बातों में वह अपने दिन बरबाद नहीं करेगा, और जीवन को कृतार्थ बनाने के उसके प्रयत्न में उसे सफलता मिलेगी। जब मरण अनिवार्य है, तब उसी को हम अपने जीवन का चौकीदार क्यों न बनावें? जीवन जीने का अच्छा तरीका यही है कि मनुष्य मरण को अपने साथ लेकर उसके साथ बात-चीत करते-करते जीवन यात्रा चलावे।

'जीवन के अंत में मरण तो आने वाला है ही। तो अभी से अथवा हमेशा के लिए उसका स्मरण करके जीने का आनंद किरकिरा क्यों करें?' यही वृत्ति होती है। सब जीने वालों की। इससे सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि मरण को हम पहचान ही नहीं सकते और उसका डर दिन-ब-दिन बढ़ता ही जाता है।

मरण के ख्याल से जीवन का आनंद किरकिरा क्यों होना चाहिए? दिन के बाद रात आती है। दिनभर जगने के बाद रात को हम सोते हैं, तब हम न रात से डरते हैं, न नींद को भूलना चाहते हैं। ऐसा ही लगता है कि नींद के, आराम के हम हकदार हैं। उसका स्मरण हमें प्यारा लगता है और रात के आनंद के हम अच्छे-अच्छे काव्य भी लिखते हैं। मरण के बारे में हम ऐसा क्यों न करें? जीवन-मरण की कुदरत ने तो अनिवार्य जोड़ी बनाई है। इनमें से जीवन का पुरस्कार और मरण का तिरस्कार, ऐसा भेद हम न करें। दोनों के प्रति हमारा एक सा रुख रहे, इसी में खैरियत है। हम मरण को भूल जाने की प्राणपण से चेष्टा करें। और वह दबे पांव हमारा पीछा करे और यकायक हमारी चोटी पकड़े, हम छूट जाने का यत्न करें और वह हमें रोते-रोते ही उठाकर ले जाय, यह दृश्य

कितना अभद्र और शर्मनाक है ? सुगंधित जीवनमाला हाथ में लेकर उसके स्वागत के लिए हम तैयार क्यों न रहें ?

यह तैयारी यकायक नहीं हो सकती। इसके लिए तो मरण के साथ स्नेही के तौर पर परिचय वढ़ाने की और बनाये रखने की साधना जरूरी है। एक-दूसरे को देखते ही दोनों के चेहरों पर प्रसन्नता का स्मित फैलना चाहिए और दृढ़ आलिंगन के लिए दोनों ओर से उत्कंठा होनी चाहिए।

किसी ने कहा है कि बंदरगाह तक पहुंचने की यात्रा करते बीच में ही जहाज समुद्र की किसी छिपी चट्टान पर टक्कर खा जाय और जहाज के साथ हम बंदरगाह की जगह समुद्र के तल तक पहुंच जायं—वैसी स्थिति है हमारे मरण की। मरण तो जीवन-यात्रा को यकायक विफल करनेवाला अपघात या अकस्मात् है। इसके लिए काव्य-स्फुरण कहां से हो ?

इस प्रश्न का जवाब हम क्या दें ? जीवन एक अद्‌भुत उपन्यास है, जिसके लेखक हम नहीं, किन्तु भगवान हैं। उपन्यास में तरह-तरह के अकस्मात् आते हैं, जिनका भी लेखक या कर्ता की दृष्टि के प्रयोजन होता है। हम उसे नहीं जानते, इसीलिए हम उसे अकस्मात् कहते हैं। लेकिन भगवान के घर में यानी योजना में उसका कस्मात् होता ही है। (संस्कृत में कस्मात् माने कहाँ से अथवा किसलिए ? कोई घटना घटी और उसका कारण अथवा प्रयोजन हम समझ न सके तो 'कस्मात् कारणात् यह घटना घटी, सो नहीं जानते' इतना कहने के लिए 'अकस्मात्' शब्द काम में लाया जाता है।) ऐसे अकस्मातों के द्वारा अपना जीवन-प्रयोजन सिद्ध करने का लुत्फ भगवान में है, इसका इलाज क्या ? इलाज इतना ही है कि अकस्मात् का कारण और प्रयोजन समझने की हम कोशिश करें और न समझ सकें तो भगवान के लुत्फ के साथ, रस के साथ,

हम एक-रस बनें। इतनी रसिकता हमारे चित्त में होनी ही चाहिए। हरेक अकस्मात् के साथ अगर हम रोने बैठें, या हिम्मत हार गए तो जीवन जियें किसलिए ? कितनी-कितनी तैयारी करके एक प्रयोजन सिद्ध करने चले और यकायक वह सारा विफल हो गया, इसका भी तो अनुभव चारित्र्य-गठन के लिए, मनुष्य-जीवन के लिए, जरूरी है।

जीवन के लिए मरण आवश्यक है, अनिवार्य है। मरण के बिना जीवन की पूर्ति नहीं हो सकती और जीवन में प्रगति के लिए, नव-नव उन्मेष के लिए, अवकाश ही नहीं रहेगा। मरण के चमत्कार के बिना जीवन जड़रूप और नीरस बनेगा। मरण है, इस वास्ते ताजगी है, उत्साह के लिए अवकाश है। हम तो यहां तक कहेंगे कि मरण के बिना जीवन में आस्तिकता भी नहीं टिकेगी।

मरण के बारे में और एक खूबी है, जिसकी तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान गया होगा। वह है मरण रूपी ज्ञान का कौमार्य। हमारे सामने कितने ही लोग मर जाते हैं, किन्तु उनके मरण का अनुभव हम नहीं कर सकते। लोग जीवन जीते हैं। हम भी जीते हैं। इसलिए औरों के जीवन का अनुभव हमें हो सकता है। तरह-तरह के लोगों के चित्र-विचित्र जीवन का निरीक्षण करके और चंद लोगों की जीवन-यात्रा में सहयोग करके हम अपने जीवन को समृद्ध कर सकते हैं। प्रभावशाली लोगों का जीवन, संस्कार-सम्पन्न स्वराज्य का जीवनक्रम और छोटे-बड़े राष्ट्रों का इतिहास पढ़कर, समझकर, हम जीवन-समृद्ध बनते हैं। किन्तु किसी के भी मरण का साक्षात्कार हमें हो नहीं सकता। कुमार या कुमारी की जब शादी होती है, तब वे अननुभूत अनुभव का पहली ही दफा साक्षात्कार करते हैं।

मरण का अनुभव और साक्षात्कार भी ऐसा ही होता है। ऐसे अनुभव का रस चखने के लिए भी मनुष्य को मरण की इच्छा और प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसके विना जीवन का परम रहस्य पूर्ण नहीं होगा।

मरण के बाद दूसरा जन्म आता है और जीवन-परम्परा चलती रहती है। ऐसी परम्परा की समृद्धि पाने के लिए मरण आवश्यक है, यह बात तो है ही; किन्तु मोक्ष की साधना करके स्थायी, पक्की मौत प्राप्त करने के वाद की जिस अवस्था की कल्पना हम कर सकते हैं, उसका अनुभव करने के लिए भी यानी मृत्यु की, मौतके बाद जो अद्भुत जीवन हमें मिलने वाला है, उसकी प्राप्ति के लिए भी, मरण की महेच्छा हमें रखनी होगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मरण ही जीवन-स्वामी परमात्मा की हमारे लिए सबसे श्रेष्ठ देन है। मरण के द्वारा ही हम जीवन को सफल बना सकते हैं और उसका रहस्य अनुभव में लाकर जीवन के साथ एकरूप हो सकते हैं। तादात्म्य ही अंतिम, सर्वोपरि और स्थायी आनंद है।

१४ / अनुपान : मरण का स्मरण

एक राजा को अखंड यौवन का आनन्द लेना था। वह एक साधु के पास गया, जिसके पास पारे की दवाई वनाने की रस-सिद्धि थी। साधु ने कहा, "मैं कहता हूं, वैसी दवा मेरी देखरेख में तैयार कराओ और उसका छह महीने तक सेवन करो। शर्त यह कि छह महीने तक दृढ़ ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ेगा।" राजा ने बात मान ली। कुशल लोगों को बैठाकर पारे की दवाई बनाई गई। एक अच्छा मुहूर्त देखकर साधु ने राजा को दवाई देना शुरू किया। खूबी यह कि राजा जितनी औषध लेता

था, उतनी ही साधु महाराज भी लेने लगे। औषध और अनुपान[1] दोनों एक-सा चलता था। एक महीने तक दवा ली और राजा की ताकत इतनी बढ़ी कि उसने एक दिन साधु से कहा, "अब ब्रह्मचर्य का पालन करना आसान नहीं।" साधु ने कहा, "दिये हुए वचन को याद करो। वचन का पालन किये बिना चारा ही नहीं।"

कुछ दिन के बाद राजा ने फिर वही बात छेड़ी और कहा, "वाजीकरण की औषध का क्या अद्‌भुत प्रभाव है! वचन कैसे पाला जा सकेगा?" साधु ने कहा, "मैं भी तो तुम्हारे साथ वही दवा ले रहा हूं। आहार भी हम दोनों का एक-सा है।"

राजा ने कहा, "यही तो ताज्जुब की बात है। कृपया अनुग्रह करके यह रहस्य मुझे बताइये कि आप निर्विकारी कैसे रह सकते हैं?"

साधु ने कहा, "यथासमय वह भी तुम्हें मालूम होगा। लेकिन कल मैं कुतूहलवश तुम्हारी जन्मकुण्डली देख रहा था। लगता है कि अनिष्ट ग्रहों के कारण तुम्हें मौत का खतरा है। तुमसे कहने का मेरा विचार नहीं था, लेकिन सोचा कि तुमको आगाह करूं तो तुम भगवान का स्मरण करोगे तो कुछ शान्ति मिलेगी।"

दूसरे दिन से देखा गया कि राजा का चेहरा उतर गया है। वह बड़े चिंतित हैं। दवाई, अनुपान और आहार तो राजा और साधु वही-का-वही लेते थे। चार दिन के बाद साधु ने राजा से पूछा, "क्या काम-विकार पहले के जैसा ही सता

---

१. किसी भी दवा का, मरीज के खास रोग में, अच्छा असर लाने के लिए जिस चीज के साथ दवा दी जाती है, उसे अनुपान कहते हैं। अदरख का रस, शहद आदि, ऐसी चीजें अनुपान होती हैं।

रहा है ?" राजा ने उद्विग्नता से जवाब दिया, "काहे का काम-विकार ? मौत की चिंता से इतना त्रस्त हूं कि दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। सब विकार ऐसे गायब हो गए हैं, मानो कभी थे ही नहीं। अब एक ही बात बताइये कि इस मौत से बचने का कोई उपाय है ? और कम-से-कम मन शान्त कैसे रहे ?"

साधु ने हँसकर कहा, "मैंने आपको कम-से-कम इतना तो आश्वासन दिया कि छह महीने तक मौत नहीं आयेगी। तो मरण के चिंतन से आपका जबरदस्त काम-विकार एकदम गायब हो गया। मैं तो मरण का सतत चिंतन करता हूं। मौत किसी भी क्षण आ सकती है। छह महीनों का आश्वासन मुझे कौन देगा ? जहां मरण का स्मरण और सान्निध्य कायम है, वहां काम-विकार कैसे सता सकता है ? आपको आपके सवाल का जवाब मिल गया, राजन ! जो औषध आप लेते हैं, वही मैं भी लेता हूं। दोनों के शरीर भी एक-से हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि अनुपान में मैं मरण के स्मरण का सेवन करता हूं।"

जीने के मोह में मरण को प्रयत्नपूर्वक भुलाकर मानव ने बहुत-कुछ खोया है। पाया क्या है ? इसका हिसाब वही दे।

अप्रेल, १९६५

१५ / जन्म, जीवन और मरण

इहलोक और परलोक की तुलना करना, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की चर्चा करना, यह तो मनुष्य का कल्पना-विलास है। इसमें से मानव-जाति ने बहुत-कुछ पाया है। आत्मा और परमात्मा के चिन्तन के साथ ये कल्पनाएं सम्मिलित हैं ही। लेकिन उनके बारे में मनुष्य निश्चित रूप से जाने या न जाने, इहलोक के हमारे जीवन के तीन तत्त्वों के बारे में मनुष्य के पास स्पष्ट कल्पना होनी ही चाहिए और इसमें से निष्पन्न कर्तव्य का

निश्चित ख्याल भी उसे होना ही चाहिए। ये तीन तत्त्व हैं : जन्म, जीवन और मरण।

मनुष्य कहता है, "जन्म और मृत्यु हमारे हाथ की बातें नहीं हैं। हम सिर्फ बीच के जीवन के लिए ही जिम्मेदार हैं।" यह विचार भी कहां तक सत्य है, यह भी मनुष्य को सोच लेना चाहिए।

एक बात तो सच है कि इस दुनिया में हमें लाने के पहले किसी ने हमसे पूछा नहीं। अपने माता-पिता को पसंद करना हमारे हाथ में नहीं था। हम किस देश में पैदा होंगे, किस जमाने में जीने का मौका हमें मिलेगा, किस धर्म के संस्कारों में हम पलेंगे, यह हमने पसन्द नहीं किया था, हमें मालूम भी नहीं था। यही कह सकते हैं कि यह तो दैवाधीन था।

लेकिन तत्त्व-चिन्तन करने वाला मनुष्य कहेगा कि किसी भी वस्तु को दैवाधीन कहना बौद्धिक आलस्य या जड़ता ही है।

हमारा जन्म हुआ, उसके पीछे चाहे हमारी इच्छा न रही हो, हमारे माता-पिता की इच्छा तो थी ही। उन्होंने इच्छा-पूर्वक, इरादतन् दाम्पत्य-जीवन को स्वीकार किया, प्रयत्न-पूर्वक सहजीवन साधा और उनके संकल्प में से ही हमारा जन्म हुआ। इसलिए कैसे कह सकते हैं कि हमारा जन्म दैवाधीन था?

ऐसी वस्तुओं के बारे में केवल तत्त्वज्ञानी ही विचार करते हैं, ऐसा नहीं है। जीवात्मा के बारे में कल्पना करने वाले धर्म-परायण कवि भी चिन्तन चला कर समझाते हैं कि एक जीवन को पूर्ण करने के बाद उस जीवन का सारा निचोड़ केवल संस्कार के रूप में साथ ले जाकर जीव माता-पिता को पसंद करके माता के गर्भ में प्रवेश करता है। जीव सचमुच ऐसा करता है या नहीं, यह कौन कह सकता है? लेकिन इस कल्पना को सच मानें तो कहना होगा कि हमारा जन्म दैवाधीन नहीं था।

यदृच्छया कुछ नहीं हुआ, लेकिन उसके पीछे जीव का इरादा और पसन्दगी थी, ऐसा सूचन होता है।

हमने मां के पेट में क्यों और कैसे प्रवेश किया, वहां हमारा विकास कैसे हुआ, यह भले आज हमें मालूम नहीं है। बचपन में हमने कुदरती ढंग से श्वास लिया, मां का दूध पिया। यह सब बिना किसी संकल्प के, कुदरती प्रेरणा से, किया, ऐसा स्वीकार करें। लेकिन उम्र बढ़ी और बुद्धि जागी, तबसे हमने स्वेच्छा से श्वासोच्छ्वास चलाया, खुराक-पानी लिया, खुद का रक्षण किया और जीवन का अनुभव प्राप्त किया। उसके पीछे हमारी स्वतन्त्रता और हमारी जिम्मेदारी है (अथवा थी—स्वतंत्रता और जिम्मेदारी, ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं।) यानी हम यदि खाना बन्द कर दें, पानी पीना छोड़ दें अथवा श्वास लेने से इनकार कर दें, तो हम जिन्दा नहीं रह सकते। उसका अर्थ यह हुआ कि हम जी रहे हैं, वह स्वेच्छा से प्रयत्नपूर्वक जी रहे हैं। इसी को अपनी भाषा में कहूं तो जीना या न जीना कुदरत ने व्यक्ति के अपने हाथ में ही सौंपा है। मैं जीवन जीना न चाहूं, तो मुझपर जबरदस्ती नहीं है। जीना या न जीना, मरण स्वीकार करना या उसे टालना यह कुदरत ने अथवा कुदरत के स्वामी ने मेरे हाथ में रक्खा है, यानी हरेक मनुष्य इस रूप में 'इच्छामरणी' है। मैं जी रहा हूं, सो स्वेच्छा से जी रहा हूं। जीना या न जीना, यह कुदरत ने मेरे हाथ में सौंपा है और इसीलिए सारे जीवन के दरमियान मैं एक जिम्मेदार प्राणी हूं।

जीवन के दरमियान मैं तालीम पाता हूं, मुझे संस्कार मिलते हैं, जीने के प्रयोग करने के अनेक मौके मुझे मिलते हैं। उनमें से बहुत-सी घटनाओं के पीछे मेरी इच्छा, मेरा संकल्प और मेरा प्रयत्न या मेरा पुरुषार्थ होता है और बाकी की

घटनाओं के पीछे मेरे सगे-सम्बन्धी, मेरे शिक्षक, मेरे साथी तथा मेरा समाज—इन सबका पुरुषार्थ होता है। इससे भिन्न कोई दैव नहीं है। (तमाम पुरुषार्थं के जोड़ को दैव कहें तो उसमें भाषा की सुविधा है। लेकिन उसमें से विचारों की गड़बड़ी पैदा होती है।)

इस तरह विचार करते हुए कहना पड़ता है कि हमारा जन्म केवल दैवाधीन नहीं है। जीवन को तो दैवाधीन कह ही नहीं सकते। जीवन का अमुक भाग हमारे अपने हाथ में नहीं होता, इसलिए उसे पूरा दैवाधीन कहने जायं तो वह युक्ति-युक्त नहीं है। हरएक व्यक्ति ओषत् (आंशिक रूप में) स्वतन्त्र होता है, लेकिन सब व्यक्तियों के पुरुषार्थ से ही जीवन बनता है। (हमारे पूर्वजों ने दैव का वाकायदा पृथक्करण करके उसको नाम दिया : अदृष्ट, यानी जिसको हम देख नहीं सकते, जिसका हिसाब हमारे पास नहीं है, ऐसा अनेकों का पुरुषार्थ।)

तब मरण के लिए ही हम यह क्यों मानें कि मरण को घड़ी और मरण का प्रकार सब हमारे जन्म से पहले ही अथवा जन्म के साथ ही निश्चित हुए हैं और वे अपरिवर्तनीय हैं? महात्माजी मानते थे और असंख्य लोग मानते हैं कि मनुष्य का मरण प्रथम से निश्चित है। कोई भी उसे टाल या परिवर्तित नहीं कर सकता। इस तरह के विचार से मनुष्य को बल मिलता होगा, मनुष्य निश्चिन्त होता होगा। मैं जानता हूं कि बहुत से पुरुषार्थी मनुष्य दैववादी होते हैं, फिर भी अपने पूरे जीवन में, चिंतन में, इस निर्णय पर नहीं आ सका हूं कि मृत्यु की घड़ी पहले से निश्चित होती है, दैव अथवा देव प्रथम से निश्चित करके बैठे होते हैं।

मैं तो प्रथम से ही मानता आया हूं कि जिस तरह विरासत में रोग मिला हो तो भी उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मिटा सकता हूं,

अपने भविष्य के लिए मैं खुद जिम्मेदार हूं, उसी तरह मृत्यु की घड़ी को टालना या उसको हटाना काफी हद तक मेरे अपने हाथ में है। ऐसा न होता तो पुरुषार्थ और जिम्मेदारी के लिए अवकाश ही न रहता।

यह कहना कि हरएक मनुष्य मरणाधीन है, हरएक मनुष्य का मरण अवश्यंभावी है, अलग बात है। यह तो तमाम जीव-सृष्टि का अर्थात् मानव-जाति का भी अनुभव है। लेकिन इस पर से यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य अमुक क्षण में ही और अमुक ढंग से ही मरेगा, ऐसा निश्चित है।

अमुक शहर के लोगों का औसत मरण-प्रमाण लगभग निश्चित होता है। यदि शहर के बाशिन्दे स्थायी हों और उनकी जीवन-पद्धति मुकर्रर हो, तो हर साल करीब अमुक संख्या में ही मरण होंगे, इसका हम पहले से अन्दाजा लगा सकते हैं, और वह सच निकलता है। लेकिन यदि नगरपालिका और नगर-पिता पुरुषार्थपूर्वक शिशु-पालन में सुधार करें और लोगों के लिए उत्तम खुराक की व्यवस्था करें, रोग-निवारण के इलाज आजमावें और लोगों को सुख-सुविधा के तथा तन्दुरुस्ती के नये-नये साधन उपलब्ध करावें, तो उस नगर का मरण-प्रमाण कितना घटेगा, इसका अन्दाजा भी हम कर सकते हैं, और मरण-प्रमाण की कमी छोटी-सी, नगण्य नहीं होती। इसीसे पता चलता है कि सिर्फ व्यक्ति ही नहीं, लेकिन मनुष्य-समुदाय भी मृत्यु को काबू में ला सकता है।

इस तरह यदि तत्त्व-चिन्तन के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मृत्यु के लिए मनुष्य जिम्मेदार है, यह सिर्फ कुदरत के हाथ की वस्तु और वह भी पहले से निश्चित हुई नहीं होती, तो इस जिम्मेदारी में से एक बड़े निर्णय को स्वीकार करना पड़ता है (जिसको स्वीकार करने की मनुष्य

की—आज के मनुष्य की हिम्मत नहीं होती) कि जीवन-चिन्तन के फलस्वरूप यदि मनुष्य इस निर्णय पर आवे कि अब ज्यादा जीना निरर्थक है तो जीवन का अन्त लाने का मनुष्य को पूरा अधिकार है। मेरा जीना या मरना यदि कुदरत या दैव के हाथ में होता, तो मैं खुराक न खाता तब भी कुदरत मुझे जिलाती। दवाई न लेने पर भी रोग पर मैं काबू पा सकता तथा अपने मृत्यु-समय तक जिन्दा रहता। इसमें कोई शक नहीं कि मृत्यु अवश्यंभावी है, लेकिन वह कब और कैसे हो, यह निश्चित करना काफी हद तक मनुष्य के अपने हाथ में है। इस निर्णय को हम टाल ही नहीं सकते।

कैसा भी जीवन हो, जीना ही चाहिए—इस तरह की जीवन-लालसा जिनसे चिपकी हुई है और जो मृत्यु से भयभीत हैं, उन्होंने अपना यह तत्त्वज्ञान चलाया है कि मर जाना, यह जीवन-द्रोह है, कायरता है। जीवन जैसी पवित्र वस्तु का अंत हम ला ही कैसे सकते हैं ?

इस दलील का गहराई में उतर कर थोड़ा विचार करना जरूरी है।

जीवन की पवित्रता की दलील करने वालों से पूछें कि लड़ाई में हजारों और लाखों लोगों का कत्ल किया जाता है तब आपकी जीवन-पवित्रता कहां जाती है ? किसी पापी गुनहगार को मार डाला जाता है और उसे प्रायश्चित्त करके जीवन को सुधारने का अवसर नहीं दिया जाता तब आपके जीवन की पवित्रता कहां छुप जाती है ?

एक को बचाने के लिए दूसरे को खत्म करना पड़ता है, इस दलील को आगे करके माँ को बचाने के लिए गर्भपात करने में पाप या गुनाह नहीं है, ऐसा यदि आप करते हैं तो हजारों लोगों को जिन्दा रखने के लिए अतिरिक्त जीवों को योग्य

कारणों से खत्म करना पाप कैसे हो सकता है ?

लेकिन फिलहाल तो मैं स्वेच्छा-स्वीकृत मरण की ही बात करता हूं। एक देश के लोगों को ही बचाने के लिए शत्रु की फौज को कत्ल किया जाता है तब कौन-सा पक्ष न्याय का है, उसका विचार या उसकी चर्चा कोई नहीं करता, और विचार या चर्चा करने पर भी अन्तिम निर्णय किसी के हाथ में नहीं होता। अपने देश का शत्रु अत्यन्त पवित्र हो, न्यायनिष्ठ हो, देश के उद्धार के लिए महत्व का काम करता हो तब भी उसको अपने देश का शत्रु समझकर मार डाला जाता है, और समाज बहुधा ऐसी हत्या को मान्यता भी देता है, और यह कितना आश्चर्य है कि फिर भी जीवन की पवित्रता की दलील करते हुए लोग शरमाते नहीं हैं! मनुष्य को यदि महसूस हो कि उसका अपना जीवन-कार्य पूरा हुआ है, जो करना था, कर लिया, जो टालने जैसा था, सो सब टाला, अब अपने हिस्से में कोई महत्व का कार्य रहा नहीं है, और इसलिए वह अपने जीवन का अन्त लावे, जीवन-निवृत्त हो जाय, तो उसमें क्या दोष ? (उसके निर्णय में विचार-दोष हो सकता है। और ऐसा विचार-दोष गुनहगार को फांसी देने वाले न्यायाधीश के हाथ भी हो सकता है। बीमारों को दवा देने में गलती हो जाने से या शल्य-क्रिया करने में गलती होने से रोगी मर जाता है, इसलिए दवा देने का या न्याय देने का काम समाज ने बन्द नहीं किया है, तो मनुष्य का जीवन-निवृत्त होने का जन्मसिद्ध अधिकार अमान्य क्यों किया जाय ?)

मनुष्य के हाथों गुनाह या पाप हो जाय तब आबरू बचाने की दृष्टि से मरण को न्यौता देने के अधिकार का मनुष्य उप-योग करे तो वह कायरता है। उसे हम आत्महत्या कहते हैं, क्योंकि गुनाह या पाप हो जाने के बाद प्रायश्चित्त करने का तथा

जीवन को सुधारने का मिला हुआ मौका बेइज्जत होने के डर से मनुष्य खो बैठता है। यह उसकी कायरता है। ऐसी आत्महत्या अलग चीज है और जीवन का कार्य समाप्त हुआ, ऐसा समझकर जीवन-निवृत्त होना अलग चीज है।

बच्चे के जन्म के बाद यदि डाक्टरों का दृढ़ अभिप्राय हो कि बच्चा जीने के लायक नहीं है, तब केवल दयाधर्म से अपना कर्तव्य समझकर डाक्टर लोग माता-पिता को सलाह देते हैं और उनकी सम्मति लेकर उस बच्चे को जीवन-विमुख करते हैं, उसके प्राण लेते हैं। आज इस बात को समाज-मान्य करवाने के नैतिक प्रयत्न सब जगह हो रहे हैं। इस शुद्ध दलील को स्वीकार करने के बाद तमाम सतर्कता रखकर और सारा जोखिम टालकर जीवित मनुष्यों के लिए, बीमारों के लिये अथवा सब तरह से जीनेके अयोग्य लोगोंके बारे में समाज ऐसा ही निर्णय करे तो उसमें गलत क्या है? (स्वार्थवश होकर मांस के लोभ के कारण गाय का वध करना अलग वस्तु है और आश्रम के प्यारे बछड़े को, वह रोगमुक्त नहीं हो सकेगा, ऐसा यकीन हो जाने के बाद, उसकी अन्तिम वेदनाओं को टालने के लिए, दया-धर्म के कर्तव्य के तौर पर, उसकी जिन्दगी कम करके धर्मकृत्य के तौर पर मृत्युदान देना अलग वस्तु है। ऐसे समय पर मरण-दान देने से घबड़ा जाना या कर्तव्यच्युत होना ही कायरता है और उसमें धर्मच्युति भी है।)

जन्म, जीवन और मरण के बारे में कायर होकर नहीं, जीवन-लालसा से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि शुद्ध धर्म-कर्तव्य के तौर पर विचार करने की हमें आदत डालनी चाहिए।

बुद्ध भगवान ने जिन अनेक तृष्णाओं की निन्दा की है, उनमें से दो तृष्णाओं की तरफ हमें खास ध्यान देना चाहिए। वे हैं भव-तृष्णा और वि-भव तृष्णा। कैसे भी हो, जाऊंगा ही, ऐसी

अशोभनीय जीवन-लालसा को तथा मरण टालने की अशोभनीय इच्छा को बुद्ध भगवान 'भव-तृष्णा' कहते हैं, और कायर होकर अथवा झूठे तत्वज्ञान को स्वीकार करके मनुष्य-जीवन विमुख होना चाहे—आत्महत्या करना चाहे तो उसे 'वि-भव तृष्णा' कहते हैं। (भव-विमुख होना सो वि-भव)। एक जमाना था जब हमारे देश में कई बौद्ध 'जीवन दुःखमय है, जीवन निःसार है' ऐसे निर्णय पर आकर आत्महत्या करते थे, मानो आत्महत्या का छूत का रोग ही फैला था। पश्चिम के ख्रिस्ती लोगों में और उसके पहले के गैरख्रिस्ती लोगों में वैसा ही पागलपन किसी समय फैला हुआ था। ऐसी वि-भव तृष्णा के खिलाफ प्रचण्ड प्रचार करना पड़ा था और मनुष्य-जाति ने कानून की शरण लेकर उस पागलपन को आत्महत्या के गुनाह के तौर पर जाहिर किया था। (उसमें मुश्किल इतनी ही थी कि आत्महत्या कर चुकनेवाले को कानून कोई सजा नहीं कर सकता था। उसके रिश्तेदारों को विरासत के हक से वंचित करे और उसके लिए प्रार्थना न करने दे, यह अलग बात है। पर मर चुकनेवाले को तो कुछ भी सजा नहीं हो सकती थी। आत्महत्या का प्रयत्न करने वाले तथा उनमें सफलता प्राप्त न कर सकने वाले दुर्दैवी व्यक्ति पर कानून टूट पड़ता था और निर्दयता से सजा करके उसके जीवन को अधिक दुःखी बनाता था।) अभी-अभी एक चिन्तनशील बहन ने कहा था कि कानून में आत्महत्या के प्रयत्न के लिए जो सजा है उसे निकाल ही देना चाहिए। उस बहन की यह सूचना विचार करने योग्य है, लेकिन हम सहज निर्णय पर नहीं आ सकते।

कानून की न्यायता-अन्यायता का विचार करनेवाले और धर्म की दृष्टि से पाप-पुण्य का विचार करने वाले लोगों को तटस्थ भाव से पूर्वाग्रह के दोष को टालकर, मानव-कल्याण का विचार करके मृत्यु के बारे में गहरा विचार करना चाहिए। मृत्यु जैसी

गहरी और असरकारक वस्तु के बारे में विचार ही न करना मनुष्य-जाति को शोभा नहीं देता। मरण तो कुदरत का या भगवान का दिया हुआ श्रेष्ठ वरदान है। इसीलिए तो मनुष्य के जीवन में जिम्मेदारी तथा पवित्रता प्रवेश कर सकती है। मानव-जाति में इन दिनों कहीं भी मृत्यु के बारे में पागलपन सवार नहीं है, इसीलिए तटस्थ भाव से इस विषय का और इस कर्तव्य का चिन्तन होना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि पशुओं के बारे में जितनी आसानी से हम निर्णय पर आते हैं, उतनी आसानी से मनुष्य के बारे में निर्णय नहीं कर सकते। लेकिन विचार ही न करने में जड़ता है और धर्महानि है। इस बात को स्वीकार करना ही चाहिए कि स्वेच्छा-मरण मनुष्य के अधिकार की बात है। मनुष्य-जाति को समझना चाहिए कि थकावट और आराम, नींद और मरण अर्थात् निवृत्ति एक अत्यंत कीमती वरदान है।

१६ / मृत्यु की कल्याणकारिता

ईसाई लोगों के ग्रन्थों में एक वचन बार-बार आता है— 'द वेजेज़ आफ सिन इज डेथ' इसका सीधा अर्थ होता है मौत पाप का फल है। उनकी यह बात ध्यान में नहीं आती। पापी लोग ही मरते हैं, पुण्यवान नहीं मरते, ऐसा अनुभव नहीं है। साधु-संत पुरुष, पुण्यवान, परोपकारी और मोक्ष के अधिकारी भी मरते ही हैं। पुराणों में कभी न मरनेवाले सात चिरंजीवियों का जिक्र आता है। वे भी आज कहीं नहीं हैं। ईश्वर के अवतार और ईश्वर के पुत्र सभी मर गये हैं। पाप-पुण्य से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे पशु-पक्षी आदि सब प्राणी भी मरते हैं। मरण जैसी सार्वभौम दूसरी चीज है ही नहीं।

जिस तरह एक सिक्के की दो बाजुएं होती हैं—आगे की और पीछे की, उसी तरह प्राणियों के जीवन में जन्म और मृत्यु जुड़े हुए हैं। दोनों को हम अलग कर ही नहीं सकते।

अब अगर कोई यह माने कि जन्म लेना ही दुःख है, संकट है और किसी पाप का फल है, तो जन्म का अन्तिम क्षण मरण भी पाप का फल कहा जा सकता है।

जो लोग मोक्ष चाहते हैं वे जन्म से और मृत्यु से, दोनों से बचना चाहते हैं, लेकिन उन्होंने जन्म और मृत्यु को पाप का फल नहीं कहा है।

ऐसे भी लोग हैं, जो मानते हैं, "मनुष्य अगर मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्मचारी रहे, तो वह हनुमान के जैसा वज्रकाय अथवा वज्रांगबली और अमर हो सकेगा। मनुष्य ब्रह्मचर्य को संभालता नहीं, इसीलिए मृत्यु उसे घेर लेती है।"

ऐसे लोग कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य को भंग करना ही सबसे बड़ा पाप है। इसीलिए मनुष्य को जरा, व्याधि और मृत्यु घेर लेते हैं, अन्यथा मनुष्य अजरामर होने के लिए ही पैदा हुआ है।

ऐसे लोगों का यह विचार प्यारा है, रोचक है, लेकिन अनुभव-सिद्ध नहीं है। आदर्श ब्रह्मचारी भी मर गये हैं और चन्द आदर्श ब्रह्मचारी तो अल्पायुषी भी साबित हुए हैं।

हम तो मानते हैं कि हमारे लिए जीवन और मृत्यु दोनों भगवान के एक से वरदान हैं। मरण प्राणियों के लिए अटल है और यही बात सबसे बड़ा आश्वासन है। अनन्त काल तक जीते रहना एक बड़ी आफत होगी। अगर स्वाभाविक ढंग से मौत नहीं आयेगी तो मनुष्य अनन्त काल तक जीवन जीने के कारण परेशान होकर आत्महत्या ही करेगा।

कई आदर्श ब्रह्मचारी अल्पायुषी हुए हैं और इसके विरुद्ध जिनका पिंड प्रथम से मजबूत था, ऐसे विलासी लोग दीर्घायु

हुए हैं।

इस पर से स्पष्ट होता है कि मृत्यु मात्र पाप या पुण्य का फल नहीं है। जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है और यह अच्छी बात है।

सामान्य अनुभव है कि मनुष्य मृत्यु को अनिष्ट समझता है और मृत्यु से डरता है। पशु-पक्षियों के विचार हम नहीं जानते, लेकिन हम देखते हैं कि तमाम प्राणी मौत से बचना तो चाहते ही हैं। शायद इतर प्राणी मनुष्य के जितना मौत से नहीं डरते होंगे।

चन्द लोग कभी-कभी निराश होकर या जीवन से ऊबकर आत्महत्या करते हैं। शास्त्रों ने ऐसी आत्महत्या को बुरा माना है और कहा है कि आत्महत्या से मनुष्य का कोई भी सवाल हल नहीं होता। कायर बनकर या जीवन से ऊबकर जो लोग आत्महत्या करते हैं, उनके लिए पुनर्जन्म निश्चित है ही। इतना ही नहीं, किन्तु 'आत्महत्या' जैसा बुरा काम किया, इसलिए उसे बुरा ही जन्म मिलेगा और 'आत्महत्या का पाप' धोने के लिए विशेष तपस्या अथवा साधना करनी पड़ेगी।

इतिहास से मालूम होता है कि जिस तरह छूत का रोग फैलने पर बहुत से लोग पट-पट मरने लगते हैं, उसी तरह "जीवन दुःखमय है, हमने जन्म लिया, यही एक गलती हुई, इसलिए प्रयत्नपूर्वक जीवन से निकल जाना चाहिए," ऐसा गलत तत्वज्ञान लोगों में फैलने के कारण केवल हमारे देश में ही नहीं, अन्य देशों में भी आत्महत्या की बीमारी कभी-कभी फैली थी और फिर धर्मनिष्ठ लोगों को उसके खिलाफ जोर से प्रचार करना पड़ा था।

आज ऐसी स्थिति नहीं है। सभ्य और संस्कारी सब देशों में आत्महत्याओं के किस्से भी दर्ज किये जाते हैं और देखा

गया है कि हर साल की आत्महत्या की संख्या मामूली तौर पर स्थिर ही रहती है।

ऐसी संख्या बढ़ने-घटने पर समाज-विज्ञान-वेत्ता उसका कारण ढूंढ़कर बता भी सकते हैं। आत्महत्या अब कोई सामाजिक चिन्ता का विषय नहीं रही।

जब हम मृत्यु के डर का कारण ढूंढ़ते हैं तब एक बात मन के साथ स्पष्ट करनी चाहिए। मौत का डर अलग चीज है और मृत्यु के समय होनेवाली शारीरिक वेदना का डर अलग चीज है। (मैं मानता हूं कि मृत्यु का डर मेरे हृदय से निकल गया है, लेकिन शारीरिक वेदना का डर शायद अभी बाकी है। वेदना से बचने की इच्छा मौजूद होने से उस वेदना से बचने की कोशिश मैं अवश्य करूंगा। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। अगर मेरा पांव या कोई अंगुली सड़ने लगी और उसका कोई दूसरा इलाज नहीं रहा, तो मैं उसे कटवाने की सम्मति खुशी से दूंगा, बशर्ते कि उसकी वेदना का अनुभव मुझे न करना पड़े। आजकल के डाक्टर लोग ऐसी मदद हर तरह से कर सकते हैं और मरीज भी खुशी से उसके लिए सम्मति देते हैं।) वेदनारहित मृत्यु को अंग्रेजी में 'युथनेशिया' कहते हैं। यह ग्रीक शब्द है। (दर्द का भान न हो इस उद्देश्य से सारे शरीर को अथवा उसके किसी भाग को बधिर करने की दवा अथवा प्रक्रिया को 'एनेस्थीसिया' कहते हैं।)

मृत्यु के डर में अनेक डर समाये रहते हैं। एक है शारीरिक वेदना का डर, दूसरा है शरीर से यानी जीवन से वियोग होने का डर। तीसरा डर है सगे-सम्बन्धी अथवा इष्ट स्नेहियों से अपना वियोग होने का डर। चौथा है, जो कुछ भी पुरुषार्थ हम करते हैं अथवा जीवन का आनन्द लेते हैं, उसके यकायक कट जाने का डर। इसमें एक पांचवां डर भी हम बढ़ा सकते हैं।

मृत्यु के बाद हमारा क्या होगा, कहां जाना पड़ेगा, क्या भुगतना पड़ेगा, इसकी कोई स्पष्ट कल्पना न होने से जो डर लगता है, उसे हम 'अज्ञात का डर' कह सकते हैं।

ऊपर जितने डर हमने बताये, वे मरने वाले के चित्त में उठनेवाले डर हैं, जिनका हमें विस्तार से चिन्तन करना है, क्योंकि इनमें से बहुत से डर अज्ञानजनित निष्कारण डर हैं और उनका दुःख हम आसानी से दूर कर सकते हैं।

लेकिन अपने किसी इष्ट-जन की मृत्यु देखने से या सुनने से जो दुःख हमें होता है उसका क्या ? विशेष परिस्थिति में ऐसी मृत्यु के कारण मनुष्य को अपने भविष्य के लिए भी डर लगता है।

पति के मर जाने पर उसकी पत्नी को दुःख भी होता है और डर भी लगता है कि वैधव्य-दशा में मेरा भरण-पोषण कौन करेगा ? ससुराल में और समाज में मेरी क्या स्थिति होगी ? मेरे प्रति बाल-बच्चे भी कैसे पेश आयेंगे ?—इत्यादि तरह-तरह के डर स्त्री को सताते हैं। छोटे बच्चे अथवा पुरुषार्थहीन आश्रित लोग अन्नदाता के मर जाने पर अपनी हालत से चिन्तित होकर जो डरने लगते हैं, उसका चिन्तन हमें यहां नहीं करना है। वह तो व्यवहार का एक अलग सवाल है।

सगे-सम्बन्धी अथवा इष्ट-मित्र के मरने पर हमें जो दुःख होता है, वह स्वाभाविक है। ऐसा दुःख होना कुछ हद तक उचित भी है, लेकिन उसकी अवधि बढ़ना अथवा मात्रा बढ़ना मनुष्य के लिए शोभा नहीं देता। ऐसे दुःख से मनुष्य जब विचारशून्य होता है, किंकर्तव्यविमूढ़ बनता है, तब इसे उसकी अज्ञानता, मूढ़ता और बुद्धि की जड़ता ही समझना चाहिए। वियोग का दुःख स्वाभाविक है। वह विवेक से ही दूर हो सकता है और विवेक की शक्ति मनुष्य को किसी भी हालत में खोनी

नहीं चाहिए। वह तो हमेशा बढ़नी ही चाहिए।

अब रहा किसी के मरण पर समाज को होने वाला दुःख। इसमें भी लाभ-हानि का विचार एक चीज है, नेतृत्व की और सलाह-सूचना की अपेक्षा टूट गई, इसका दुःख दूसरी चीज है। अच्छे आदमी का वियोग हुआ यह सर्वसामान्य दुःख है ही, यह स्वाभाविक भी है, और उसकी मर्यादा रहना हमेशा इष्ट है। ऐसी हालत में विवेक-शक्ति आसानी से मदद देती है और दुनिया अपने रास्ते चलती है।

किसी की मृत्यु को देखकर या सुनकर जो दुःख होता है, उसके बारे में दो-तीन तरह का विचार या विवेक करना इष्ट है।

अगर मरनेवाला आधि-व्याधि से या बुढ़ापे से त्रस्त था, जीना उसके लिए दूभर हो गया था, तो ऐसी हालत में उसका छूट जाना हमें इष्ट और अभिनन्दनीय ही लगना चाहिए। अपने लाभ-हानि का विचार छोड़कर और वियोग के दुःख को काबू में लाकर हमें तो राजी ही होना चाहिए कि बेचारा दुःखमुक्त और चिन्तामुक्त हुआ।

मरने वाले की मृत्यु के बाद जब आसपास की सारी हालत बिगड़ जाती है तब भी हम कहते हैं कि 'भाग्यवान था वह मरनेवाला, क्योंकि बाद की दुर्दशा देखकर दुःखी, लज्जित या त्रस्त होने से बच गया।'

जो लोग इतिहास जानते हैं, जीवन-परम्परा और सामाजिक जीवन का घटना-चक्र जानते हैं, वे तुरन्त कहते हैं, "मरण अवश्यंभावी है। दुनिया किसी के लिए ठहरी नहीं है, भले-बुरे दिन जीवन-क्रम में आते ही हैं। इसलिए मरण का शोक करना व्यर्थ है।" (दिलासा देनेवाले लोग अक्सर यही दलीलें करते हैं। सबको ये दलीलें कंठस्थ भी हो गई हैं। फलतः सच्ची होने

पर भी ये दलीलें निःसत्व हो गई हैं। इनमें है तो सच्चा विवेक, लेकिन बार-बार कहने से इनका असर बहुत ही कम हो जाता है।)

सब बाजुओं से सोचने पर मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि मृत्यु सचमुच मित्र ही है। (वह मोच नहीं, किन्तु मीत ही है।)

कोई उपन्यास लिखनेवाला जब देखता है कि कथावस्तु जटिल होने से कथा नीरस हो रही है, तब वह उपन्यास-कार युक्ति-प्रयुक्ति से पात्रों को मार डालता है। इसी तरह से जीवन-स्वामी भगवान के लिए भी अपनी दुनिया में से प्राणियों को मार डालना उचित होता है और भगवान का उपन्यास तो अनन्त काल तक चलने वाला है। उसमें पात्रों की संख्या अतिमात्रा में बढ़ जाय, यह काम का नहीं है, और जिस तरह उपन्यास पढ़ने वाले उपन्यास का अन्त चाहते हैं, उसी तरह जीवन जीने वाले लोगों के लिये भी उनका अन्त अभीष्ट होता है। (अच्छी-से-अच्छी कविता अथवा भाववाही संगीत भी अनन्त काल तक चले, तो उसे हम मंजूर नहीं करेंगे। सुनने का आनन्द पूरी मात्रा में पाने के बाद हम चाहते हैं कि संगीत अब बन्द हो जाय। अब उसका केवल अनुरणन ही रहे, ताकि हम उसकी जुगाली ही कर सकें और अन्त में उस जुगाली का भी हम अन्त चाहते हैं, उसे भी भूलना चाहते हैं।)

किसी का स्मित अथवा हास्य देख-सुनकर हम प्रसन्न होते हैं; लेकिन अपनी मर्यादा को छोड़कर अगर कोई आदमी हंसता ही रहे तो हम ऊब जायेंगे। उसे पागल कहेंगे और उसका संग टालना चाहेंगे। खाने-पीने की बात भी ऐसी ही है। सुख भी आखिरकार शान्त होना ही चाहिए। दुःख तो शान्त होता ही है।

जिस तरह थके हुए होने के कारण हम रात को नींद की अपेक्षा करते हैं और सारी रात गाढ़ निद्रा पाने पर ताजे, प्रसन्न होकर दूसरा दिन शुरू करते हैं, उसी तरह मृत्यु और पुनर्जन्म के बारे में भी होना चाहिए। सोनेवाला जानता है कि नींद के बाद दूसरे दिन हम जागेंगे ही। सूर्यास्त देखने वाला रसिक अथवा व्यवहारी मनुष्य जानता है कि रात्रि पूरी होने के बाद सूर्योदय होने वाला ही है। केवल किसान ही नहीं, हरएक आदमी जानता है कि गरमी के दिनों में जो घास सूख जाती, है वह बारिश होते ही फिर से जरूर उगने वाली है। इसी तरह मनुष्य का विश्वास होता है कि 'ध्रुव जन्म मृतस्य च।' उसको मृत्यु का दुःख या डर होना ही नहीं चाहिए। कठोपनिषद् में युवा नचिकेता को जीवन-मरण का रहस्य समझाने वाले प्रत्यक्ष यमराज घास का ही उदाहरण लेकर कहते हैं:

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते
सस्यमिवाजायते पुनः।

हमारे धर्म में पुनर्जन्म की बात सर्वमान्य है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विरोध शायद किसी भी धर्म में नहीं है। जहां मौन है, वहां उस मौन का अर्थ इनकार नहीं, किन्तु अनिर्णय ही हो सकता है। हम भारतीय लोग आत्मा-परमात्मा को मानें या न मानें, पुनर्जन्म अथवा जन्म-परम्परा को तो मानते ही हैं। कर्म के सिद्धान्त को समझने के लिए पुनर्जन्म को मानना ही पड़ता है। धर्म की व्यवस्था भी जन्म-परम्परा की कल्पना से ही पूर्णतया संतोष दे सकती है।

मृत्यु का चिन्तन मैं हमेशा तरह-तरह से करता रहता हूं। मैंने अपने को आदत ही ऐसी डाली है कि मृत्यु का स्मरण करीब-करीब हमेशा रहता ही है। मैं अनुभव से कह सकता हूं कि मृत्यु का सतत स्मरण होने से ही हर्ष-शोक से परे जो आनन्द

है, उसका मैं साक्षात्कार कर सका हूं, और उसी के कारण चित्त की प्रसन्नता कायम रहती है और उसका स्वास्थ्य पर भी अच्छा असर दीख पड़ता है।

मृत्यु के बारे में एक और दिशा से सोचना जरूरी है।

मनुष्य किसी एक कल्पना से या आदर्श से प्रभावित होकर जीवन का प्रारम्भ करता है, प्रवृत्तियां शुरू करता है। इसमें आदर्श तो एक उन्नत और सार्वभौम कल्पना ही होती है। ऐसी उन्नत और सन्तोषकारक कल्पना की प्रेरणा जबरदस्त होती है और उसी के बल पर मनुष्य जीवन का पुरुषार्थ चलाता है।

पुरुषार्थ करते हुए, साधना द्वारा जीवन का प्रयोग करते हुए, मनुष्य को ठोस 'अनुभव' होने लगता है और उस अनुभव के अनुसार उसे आदर्श में परिवर्तन भी करना पड़ता है। अनुभव के द्वारा कल्पना के चन्द पंख काटे जाते हैं। कल्पना अक्सर आदर्शवाद की तरफ झुकती है और अनुभव वास्तववाद का महत्व बताता है और मनुष्य को ठोस जमीन पर खड़े रहने के लिए बाध्य करता है।

जीवन में सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु तो अनुभव ही है। सब तरह के आदर्शों और सब उन्नत कल्पनाओं को जीवन में प्रयोग में लाने के बाद जो अनुभव प्राप्त होता है, वही सब कल्पनाओं की अन्तिम कसौटी है। अनुभव से जो पाया, वही मनुष्य की सच्ची और अच्छी पूंजी होती है।

अनुभव का यह सारा महत्व कबूल करने के बाद कहना पड़ता है कि कल्पना में उड़ान की शक्ति होती है। पुरुषार्थ करने की हिम्मत और दृढ़ता से उसे आजमाने का प्राण अनुभव में उतना नहीं होता, जितना आदर्श कल्पना में होता है।

अनुभव का भार बढ़ने से मनुष्य के विचारों में और जीवन में परिपक्वता, शान्ति और समाधान प्रकट होते हैं सही, लेकिन

साथ-साथ जीवन में बुढ़ापा भी आ जाता है। अनुभव-समृद्ध जीवन थकान के कारण नये-नये प्रयोग करने की हिम्मत नहीं करता। उसमें अलंबुद्धि आती है। नया-नया पुरुषार्थ आजमाने के लिए जो नया प्राण चाहिए, वह उसमें नहीं होता।

यह सारी स्थिति स्वाभाविक है, अपरिहार्य है, किन्तु इसमें प्रगति का माद्दा कम होता है। इसलिए अनुभव का बढ़ा हुआ सार्वभौम साम्राज्य तोड़ने के लिए भगवान अपने परम कारुणिक किन्तु क्रान्तिकारी देवदूत को भेजता है, जिसका नाम है अंतक, यम अथवा मृत्यु। (मृत्यु में जो एक संयम होता है, पुरुषार्थ-पोषक शक्ति होती है, उसी का नाम है 'यम'। यम और संयम एक ही धातु से बने हुए शब्द हैं। संयम में ही संस्कृति है, शक्ति है और नये-नये प्रयोग करने की हिम्मत भी ऐसे संयम के द्वारा ही खिलती है।)

ये सारे गुण मृत्यु में हैं। मृत्यु के द्वारा केवल नया जन्म नहीं मिलता। मृत्यु के द्वारा मनुष्य संजीवन, प्राणवान बनता है और भविष्य में नये-नये स्वप्न देखने की शक्ति उसमें प्रकट होती है। इस तरह मृत्यु ही जीवन का उत्तम-से-उत्तम साथी है।

१५-१०-६७

१७/ मरण का सच्चा स्वरूप

'दिवस' शब्द के दो अर्थ होते हैं: एक संकुचित, दूसरा व्यापक। सुबह से शाम तक के बारह घण्टे के प्रकाशमय विभाग को दिवस कहते हैं, दूसरे अंधेरे वाले विभाग को रात्रि।

'दिवस' शब्द का दूसरा व्यापक अर्थ है। दिवस और रात्रि मिलकर होने वाले चौबीस घण्टों के काल विभाग को भी 'दिवस'

कहते हैं। जब महीनों के और वर्षों के दिवसों की गिनती होती है तब चौबीस घण्टे के समस्त दिवस का ही विचार किया जाता है।

'जीवन' शब्द के भी ऐसे ही दो अर्थ होते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु के क्षण तक के कालखण्ड को भी 'जीवन' कहते हैं और जीवन तथा मृत्यु दोनों को मिलाकर जो व्यापक हस्ती होती है, उसे भी 'जीवन' कहते हैं। सचमुच तो जीवन और मृत्यु दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण जीवन बनता है।

हम कितने वर्ष जीयेंगे, सो कोई नहीं जानता। मृत्यु के बाद फिर से नया जन्म लेने तक कितना समय अज्ञात अंधेरे में रहेंगे, सो भी हम नहीं जानते। मृत्यु होने के बाद और नव जन्म प्राप्त होने के पहले क्या हमारा जीवन शून्यरूप ही होता है? सही हालत कौन कह सकेगा? केवल कल्पना ही करनी पड़ती है।

रात को जब हम सोते हैं, तब अपने को भूल जाते हैं। मानो हमें क्लोरोफार्म दिया गया हो या ऐसा इन्जेक्शन कि जिससे चेतना गुम हो जाय। लेकिन बहुत दफे हम सोते-सोते एक नई सृष्टि खड़ी करते हैं, जिसे स्वप्नसृष्टि कहते हैं।

यह स्वप्नसृष्टि क्या है, सो हम निश्चित रूप से नहीं जानते। कभी-कभी जाग्रत-सृष्टि के बिखरे हुए अंशों का प्रतिबिम्ब उसमें होता है। उसमें भी ऐसे खण्डित और अस्पष्ट चित्र मिलाकर एक नया ही अभूतपूर्व अकल्प्य चित्र बनाया जाता है। उसका सर्जक कौन है, सो हम नहीं जानते। हमारी उस स्वप्नसृष्टि में चाहे जितने व्यक्तियों का दर्शन होता होगा, पर सारी स्वप्न-सृष्टि हमारी अकेले ही होती है। उसमें औरों को कभी प्रवेश नहीं मिलता।

इस स्वप्नसृष्टि का पारमार्थिक स्वीकार और थोड़ा चिन्तन मांडुक्य उपनिषद् में पाया जाता है। उसके काल्पनिक वर्णन

पुराणों में पढ़ने को मिलते हैं और उसका अर्थ करने की अर्थ-विहीन कोशिश स्वप्नाध्याय में हमने पढ़ी थी। आजकल फ्रायड और यंग जैसे मानस-विज्ञानवेत्ता मनीषी स्वप्न का व्यवस्थित अर्थ करने की कोशिश कर रहे हैं। उससे इस वक्त हमें कोई मतलब नहीं है। हमारा सवाल इतना ही है कि नींद के दरम्यान जैसे एक जागृति-बाह्य स्वप्नसृष्टि का अनुभव होता है वैसे ही मृत्यु काल में कोई जीवन-बाह्य मृत्युसृष्टि होती है या नहीं ? पुराणों ने ऐसी सृष्टि की कल्पना की है, लेकिन उससे कोई खास मदद नहीं मिलती।

जो हो, परिचित जीवन और अज्ञात अपरिचित मृत्यु मिल कर जो जीवन होता है, उसी का विचार हमें करना है।

ऐसा लगता है कि जन्म-मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है वह एक विशाल गहरा सागर है। संकुचित अर्थ में जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो उस विराट सागर का केवल पृष्ठभाग ही है। जीवन की गहराई तो मृत्यु में ही देखनी पड़ेगी। इस क्षण यह केवल कल्पना ही है। किन्तु मृत्यु को अगर हम एक क्षण मानें और मरण को दो जीवनों के बीच की अज्ञात अवधि मानें, तो उस कालखण्ड की जानकारी किसी-न-किसी दिन होनी ही चाहिए। अगर ऐसी जानकारी मिली तो पूर्वजन्म और पूर्व-जन्म का सवाल भी हल हो जायगा और जन्मान्तर तथा मोक्ष का सिद्धान्त भी स्पष्ट होगा।

जो हो, इस वक्त तो जीवन और मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, उसी का चिन्तन करना चाहते हैं।

जो जीवन हम जीते हैं, उसके भी दो विभाग करना जरूरी है। इसके लिए हम एक वृक्ष की मिसाल लें।

बीज में से जब अंकुर निकलता है तब से वृक्ष अपनी पूरी ऊंचाई तक पहुंचता है तबतक उसके कलेवर में वृद्धि होती

जाती है। ऊंचाई, विस्तार और जड़ों की गहराई तीनों में वृद्धि होती हुई हम स्पष्ट देखते हैं। जब इस विस्तार की मर्यादा आ जाती है तब न ऊंचाई बढ़ती है, न शाखाओं की संख्या। पत्ते भी पुराने गिरते हैं और नये पैदा होते हैं, लेकिन विस्तार पूरा होने के बाद वृक्ष के बाह्य रूप में कोई फर्क नहीं दीख पड़ता। लेकिन उसके विकास का इससे अन्त नहीं होता। विस्तार की पूर्णता के बाद वृक्ष का सारा कलेवर अन्दर से परिपक्व, मजबूत और सुघट बनता जाता है। उसके फलों में भी रस की दृष्टि से फर्क होने लगता है। इसी तरह जीवन का विस्तार उसकी मर्यादा तक बढ़ने के बाद आन्तरिक परिपक्वता में वह बढ़ता जाता है। कोई यह नहीं कहता कि विस्तार रुक गया, इसलिए विकास भी रुक गया। ऐसे भी वृक्ष हैं कि आठ-दस वर्ष के विस्तार के बाद सौ दो सौ वर्ष या अधिक समय तक उनका आंतरिक विकास होता रहता है, जिसे परिपक्वता कहते हैं।

हमारे शास्त्रकारों ने कर्मभूमि और भोगभूमि ऐसा एक भेद बताया है। यह पृथ्वी कर्मभूमि है। इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश है। इसमें मनुष्य अपने को सुधार सकता है, या बिगाड़ सकता है। भोगभूमि में पुण्य-पाप का फल भुगतने की बात रहती है। उसमें नये पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता। कर्मभूमि और भोगभूमि का यह भेद और ऊपर बताया हुआ विस्तार और विस्ताररहित परिपक्वता का भेद ध्यान में लेने के बाद हम कल्पना कर सकते हैं कि मरण के बाद मनुष्य तुरन्त दूसरा जन्म नहीं लेता। किन्तु जो जीवन पूरा किया, उसके सब संस्कारों को हजम करके परिपक्व बनाने के लिए कुछ समय लेता है। मृत्यु के बाद की मरणावस्था केवल शून्यमय अथवा अभावात्मक नहीं है, किन्तु पाचन की क्रिया के जैसा कुछ परिवर्तन करने का यह काल होगा। गणित, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करने

वाले लोगों का अनुभव है कि पढ़ते-पढ़ते अथवा प्रयोग करते-करते जो बात किसी भी तरह ध्यान में नहीं आती वह सो कर उठने के बाद तुरन्त स्पष्ट होती है और कभी-कभी नयी दिशा ही मिलती है। वे कहते हैं कि नींद में सुप्त मन किसी अजीब ढंग से काम करता रहता है और जागृति में मन जहां नहीं पहुंच सकता था, वहां सुषुप्ति में पहुंच सकता है। जागृति में प्रयोग हो सकते हों, स्वप्न और सुषुप्ति में अकेला चिन्तन हो सकता हो, तो मरण के द्वारा जीवनानुभूति का रसायन बनाने की क्रिया क्यों नहीं होती होगी ?

मरण-पूर्व जीवन का खात्मा होते ही सबकुछ खत्म हो जाता, तो मनुष्य को विशाल निस्तारता का और वैफल्य का ही अनुभव होता। मृत्यु का सतत दर्शन होते हुए भी मनुष्य के मन में अमरत्व की जो अदम्य कल्पना बनी रहती है, उसी पर से यह स्पष्ट कल्पना सहज रूप में होती है कि मृत्यु के बाद मरण-प्रधान अथवा मरणाधीन एक अद्भुत अज्ञात जीवन होता है, जिसका खयाल हमें नहीं है। आत्मा की प्रगति मरणावधि के जीवन में उत्तम ढंग से होती होगी। उस अवधि में ज्ञानप्राप्ति के लिए भौतिक इन्द्रियों की मदद की जरूरत शायद नहीं रहती होगी।

जो हो, मरणावस्था की व्याप्ति और उसका स्वरूप आज हम नहीं जानते, इसलिए हम उसका महत्व कम न मानें।

मरण के बारे में हमारा डर इतना जबरस्त होता है कि मरण क्या है, इसका चिन्तन-मनन करने के लिए जरूरी तटस्थता और उत्साह हम खो बैठते हैं। हम नहीं मानते कि मनुष्य अगर पूरे निश्चय से कुतूहल को जाग्रत करे, तो कोई भी वस्तु उसके लिए अज्ञात रह सकती है।

आजकल थोड़े एकांकी नाटक हम देखते हैं। पुराने नाटक

पांच अथवा सात अंक के होते हैं। इन अंकों में सम्भाषण, अभिनय और गीतों के द्वारा जीवन का प्रदर्शन करने के बाद एक पर्दा आता है और उसके ऊपर उठने पर दूसरा अंक शुरू होता है। कभी-कभी दो अंकों के बीच जो घटनाएं होती हैं वे नाट्यानुकूल न होते हुए भी बतानी तो पड़ती है, इसलिए दो अंकों के बीच एक छोटा-सा प्रवेश डालते हैं, जिसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।

जब पर्दा गिरता है तब नटों को नवीन अंक की तैयारी करने का और वेश बदलने का अवकाश मिलता है। विष्कम्भक के द्वारा दो अंकों के घटनाक्रम के बीच की कड़ी प्रेक्षकों को बताई जाती है। जब विष्कम्भक नहीं होता तब प्रेक्षकों को कड़ियों की कल्पना ही करनी पड़ती है।

अब एक जन्म के अन्त में मृत्यु का पर्दा गिरते ही तुरन्त उसे ऊपर नहीं खींचा जाता। मृत्यु को या तो हम दो प्रकट जीवनों के बीच का एक पर्दा समझ सकते हैं अथवा विष्कम्भक। लेखन में एक वाक्य पूरा होने पर हम पूर्ण-विराम का एक बिन्दु अथवा दंड रखते हैं और किसी नव-विचार के प्रारम्भ की ओर ध्यान खींचने के लिए नयी कंडिका से उसका प्रारम्भ करते हैं। एक कंडिका का विस्तार पूरा हुआ, उसका मतलब ध्यान में आया, उस मतलब को साथ लेकर आगे बढ़ने के लिए विचार की नई सांस लेना जरूरी है, ऐसा जब लगता है, तब हम नयी कंडिका शुरू करते हैं। एक-एक मृत्यु को इसी तरह हम कंडिका का अन्तर भी समझ सकते हैं और जब अध्याय बदलता है, प्रकरण बदलता है, तब भी यह परिवर्तन कालसूचक और विचार की ताजगी पैदा करने वाला प्रारम्भक बनता है। मृत्यु भी विशाल जीवन के लिए ऐसा ही एक आवश्यक परिवर्तन गिना जा सकता है।

जो हो, मृत्यु हमारे जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक और पोषक अंग है, इतना तो स्पष्ट होता है, लेकिन मृत्यु की अवधि विकास-शून्य होगी, ऐसी कल्पना करना हमारे लिए मुश्किल है। इसलिए हम तो दिवस और रात्रि के क्रम के जैसा ही जीवन और मरण का क्रम है, ऐसा मानते हैं। पुराणकारों ने दो जीवनों के बीच की अवधि को कथाएं रचकर उसकी एक काल्पनिक स्वप्न-सृष्टि बनाई है। हमारी कल्पना के लिए उनके प्रयास पोषक हैं। लेकिन पुराणकारों की इस मरण-सृष्टि का हम कुछ विशेष महत्व नहीं मानते, क्योंकि पुराण न तो केवल इतिहास है, न केवल कल्पना है, वह एक काव्यमय सृष्टि है। संस्कृत के आकलन के लिए वह उपयोगी है और विनोद के लिए उसका उपयोग स्पष्ट है ही।

मरण का भय रखकर बुद्धि को जड़ बना देना और कल्पना को मूर्छित करना हमें पसन्द नहीं है। अगर हम ज्ञानोपासक बनकर मृत्यु के रहस्य को ढूंढ़ने की कोशिश करेंगे, तो हमारा विश्वास है कि भगवान की कृपा से हमें उसमें सफलता मिलेगी, निराश नहीं होना पड़ेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि मरणावधि का जीवन हमारे प्रकट जीवन से कम महत्व का नहीं है।

१-११-'६६

१८ / मरणोत्तर जीवन

स्वर्ग और नरक की लोगों में रूढ़ बनी हुई कल्पना मनुष्य के अनुभव के आधार पर ही खड़ी की गई है, इतना समझ लेने के बाद उसकी बहुत कीमत नहीं रह जाती। फिर भी मन की यह वृत्ति बनी रहती है कि मनुष्य जीवन से अधिक उच्च जीवन अवश्य होना चाहिए और मनुष्य-जीवन से अधिक हीन, अधिक

अर्थशून्य और अधिक संताप देने वाला जीवन भी होगा ही।

अतः मरणोत्तर जीवन, पारलौकिक जीवन, स्वर्गलोक, मृत्यु आदि क्या है, इस पर अपने मन में विचार करने की इच्छा मानव-जाति को वार-वार होती है। एक देह का त्याग करने के वाद तत्काल अथवा कालान्तर में, इसी पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र, मनुष्य-योनि में या अन्य किसी योनि में जन्म लेकर जीव नयी देह धारण करता है और नया अनुभव लेना आरम्भ करता है। इस सर्वमान्य लोक-कल्पना का किसी तरह विरोध किये बिना हम सर्वथा भिन्न दृष्टि से इन वातों पर विचार करेंगे।

कोई भी मनुष्य जव अपने पूर्वजों का श्राद्ध करता है तव किसका श्राद्ध करता है, किस चीज का श्राद्ध करता है? क्या वह आत्मा का श्राद्ध करता है? आत्मा तो सर्वव्यापी अर्थात् विभु है। उसके लिए मरण नहीं है, स्थानान्तर अथवा लोकान्तर नहीं है। इसलिए आत्मा के श्राद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। तव क्या मनुष्य देह का श्राद्ध करता है? देह की तो राख या मिट्टी हो जाती है। कदाचित् देह अन्य प्राणियों का आहार बनकर उनके साथ एकरूप भी हो गयी हो। मृत देह को खाने वाले सियारों, भेड़ियों या गिद्धों का हम श्राद्ध नहीं करते, अथवा संभव है कि देह में कीड़े पड़ गये हों और उनका ही एक बड़ा देश वस गया हो; लेकिन उनकी तृप्ति के लिए भी हम तर्पण नहीं करते अथवा पिंड नहीं रखते।

अव बाकी वचता है मरने वाले मनुष्य की वासनाओं का समुच्चय अथवा पीछे रहने वाले लोगों के मन में रही मृतक-सम्बन्धी भावनाओं का समुच्चय। इन दो वासनात्मक और भावनात्मक देहों के द्वारा मनुष्य मृत्यु के बाद शेष रहता है। इन दो में से एक देह का अथवा दोनों देहों का श्राद्ध संभव तो है।

लोक-कल्पना यह है कि मरा हुआ पूर्वज महाशूर, क्रूर, पेटू या आलसी हो, तो उसका वासना-समुच्चय अथवा लिंग-शरीर बाघ या भेड़िये के शरीर में जन्म लेता है। यदि वह मिलनसार न होगा, तो वाघ की योनि प्राप्त करेगा। समानशीलवालों का संघ बनाने की वृत्ति वाला होगा, तो भेड़िये की योनि उसके लिए अधिक अनुकूल सिद्ध होगी, परन्तु श्राद्ध इन वाघों या भेड़ियों का नहीं होता।

पूर्वजों में से कोई अपने कर्मों और संस्कारों के अनुरूप किसी भी योनि में गया हो और वहां अपनी पुरानी वासनाओं की तृप्ति करते करते नयी वासनाओं का बंधन रचता हो, तो उससे हमारा कोई वास्ता नहीं। हमारा कोई पूर्वज अपना शरीर छोड़कर चला गया हो, तो भी इस लोक में उसका सम्पूर्ण नाश नहीं होता। उसके द्वारा किये गए अच्छे-बुरे कर्म उसके द्वारा प्रेरित अच्छी-बुरी प्रवृत्तियां और उसके द्वारा मानव-स्वभाव के विकास में की गई वृद्धि—यह सब उसके चले जाने के बाद भी इस लोक में मौजूद रहता है।

उसके साथ जिसका सम्बन्ध था, उन सगे-सम्बन्धी, शत्रु-मित्र आदि लोगों की स्मृति और भावना में वह पहले की तरह ही जीवित रहता है; इतना ही नहीं, उसके वाकी रहे स्मृतिगत जीवन में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन भी होते हैं। मृत्यु के बाद उसका निवास एक ही शरीर में नहीं रहता। स्मृति के रूप में, कार्य के रूप में अथवा प्रेरणा के रूप में वह जितने समाज में व्याप्त होगा उस समस्त समाज में उसका निवास होता है और उसके इस जीवन को लक्ष्य में रखकर ही उसका श्राद्ध संभव हो सकता है। श्राद्ध मरे हुए जीवों का नहीं होता; परन्तु देहत्याग करने के बाद उनका जो अंश समाज में जीवित रहता है, समाज के द्वारा प्रवृत्ति करता है, विकसित होता है और पुरुषार्थ करता

है, उसी का श्राद्ध हो सकता है। यह मरणोत्तर सामाजिक जीवन ही सच्चा पारलौकिक जीवन है। शास्त्रकारों ने मनुष्य की जीवित अवस्था के छ: लक्षण गिनाये हैं : 'अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते, परिणमते, म्रियते।' ये सब लक्षण इस पारलौकिक जीवन को भी लागू होते हैं। इस कारण यह जीवन काल्पनिक नहीं, परन्तु वास्तविक है, व्यापक है, दीर्घजीवी है और परिणामकारी है। यही पारलौकिक जीवन है। यह जीवन यदि सुन्दर, उन्नतिकर, शुभकर होगा, तो वही जीवन का स्वर्ग होगा। वही जीवन यदि समाज का अध:पतन करने वाला होगा, आर्यत्व का ध्वंस करने वाला होगा, तो वह जीवन नरक होगा। इस प्रकार सोचें तो प्रत्येक जीवन का स्वर्ग-नरक उसकी मृत्यु के बाद आरम्भ होता है, परन्तु वह जीव तो इस लोक में ही ओत-प्रोत रहेगा।

हम जिसे कीर्ति कहते हैं, वह वास्तव में इस पारलौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। पारलौकिक सुदीर्घ जीवन के साथ तुलना की जाय, तो जन्म-मरण के दो छोरों के बीच का हमारा सुख-दु:ख से भरा ऐहिक जीवन बहुत छोटा या संक्षिप्त कहा जायेगा। परन्तु पुरुषार्थ की दृष्टि से देखा जाय, तो यह जीवन बहुत महत्वपूर्ण है; क्योंकि यही कर्मभूमि है। भोग की दृष्टि से देखें तो यह देहगत जीवन अत्यन्त अल्प और तुच्छ है। इसीलिए तो मनुष्य अपने नफे-नुकसान का हिसाब कर सकता है, उसे ऐहिक सुखों पर अधिक दृष्टि न रखकर पारलौकिक यश:शरीर की, उसमें मिलने वाले कीर्तिरूपी सुखोपभोग की और लोगों द्वारा निरन्तर प्राप्त होनेवाली कृतज्ञता की ही अधिक चिन्ता करनी चाहिए। इस लोक में हम यदि सत्कर्म करेंगे, लोगों को सत्प्रेरणा देंगे और पीछे रहने वालों का सर्वांगीण विकास करेंगे, तो मृत्यु के बाद इन सबमें वृद्धि होती रहेगी और हमारा मर-

णोत्तर जीवन परिपुष्ट तथा लोगों की उन्नति करने वाला बनेगा।

तब मरणोत्तर जीवन अर्थात् सांपराय क्या है?

१. मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपने संकल्पों तथा अपने द्वारा प्रेरित पुरुषार्थों के योग से समाज में जीवित रहता है। मृत्यु के बाद का यह जीवन उतना ही महत्वपूर्ण होता है, जितना कि मृत्यु से पहले का जीवन। वह परिपुष्ट भी होता है और क्षीण भी होता है। वह जीवन समाज की उन्नति करने वाला हो तो वही मनुष्य का स्वर्ग है और यदि वह जीवन समाज को नीचे गिराने वाला हो तो वही मनुष्य का नरक होता है। पंच महाभूतों से बने शरीर में वास करने की अपेक्षा समाजरूपी शरीर में वास करके मनुष्य अत्यन्त दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है और ऐसे जीवन की सफलता का अधिकारी बनता है। इस मरणोत्तर जीवन का व्यक्तिरूपी दर्पण में, अहंकार रूपी दर्पण में, जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही कीर्ति है, वही यश है।

२. मनुष्य को मृत्यु के बाद के समाजगत जीवन का खयाल नहीं होता, इसीलिए कीर्ति, यश, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि कल्पनाएं रची जाकर मनुष्य के सामने प्रस्तुत की गई हैं। परलोक कोई पृथ्वी से बाहर है, ऐसी बात नहीं। परलोक का अर्थ है मृत्यु के बाद की स्थिति। इसी स्थिति को उपनिषदों में 'सांपराय' नाम दिया गया है। बालकों जैसी बुद्धि रखने वाले मूढ़ को इस सांपराय की पहचान नहीं होती। 'न सांपरायः प्रतिभाति बालम्।' मूढ़ लोग यह मानते हैं कि शरीर, उसके सुख-दुःख, उन सुख-दुःखों का साधन बनने वाली स्थावर और जंगम संपत्ति, इन सुख-दुःखों का भोक्ता अहंकार (अस्मिता) और शरीर टिके उतने समय में मर्यादित आयु—इन सबमें ही उनका सारा

जीवन समा जाता है। परन्तु इन सबको मिलाकर हमारा जो व्यक्तित्व बनता है, वह हमारे जीवन का केवल एक अल्प अंश है। वास्तव में काल, देश (व्याप्ति) और आधार का विचार करने पर मालूम होगा कि हमारा जीवन अत्यन्त विशाल है। यह सत्य जिसने समझ लिया है और जिसके गले उतर गया है, वह निश्चित रूप से निष्पाप और अमर होगा।

३. ऐसा मनुष्य यदि संत तुकाराम के शब्द में कहे कि 'मरण माझें मरोनि गेलें, झालों मी अमर'—मेरी मृत्यु मर गई और मैं अमर हो गया हूँ, तो इसका अर्थ समझना कठिन नहीं है। जीवन की दृष्टि से शारीरिक मृत्यु बिलकुल तुच्छ है, इतना तो आसानी से हमारी समझ में आ जाना चाहिए।

१६३३

१६/ स्वर्ग क्या है ?

स्वर्ग और नरक के बारे में अबतक इतना कुछ लिखा गया है कि मालूम होता है, यह लिखने वाले लोग दोनों जगह पर काफी रह चुके हैं। स्वर्ग नरक के इतने विस्तृत वर्णन पढ़ने के बाद इस प्रकार मालूम होना आश्चर्य की बात नहीं है। इस धरती का भूगोल और उस पर विचरने वाले मानवों का इतिहास लिखते समय क्या-क्या तकलीफें उठानी पड़ती हैं। भूगोल-वेत्ता लोग जान खतरे में डालकर खोज करते हैं। इतिहासकार प्राचीन अवशेषों को चूस-चूस कर इतिहास का अन्वेषण करते हैं। फिर भी, उनपर पूरा विश्वास नहीं बैठता। लेकिन इन पुराणकारों को स्वर्ग और नरक के इतिहास और भूगोल का कोना-कोना मालूम है।

क्या सचमुच ऐसे 'लोक' हैं ? हम सुनते या पढ़ते हैं कि मरने

के बाद लोग स्वर्ग या नरक को जाते हैं। लेकिन वहाँ की हकीकत सुनाने के लिए वहां से कोई वापस लौटा हो, यह हमने न तो सुना है, न कहीं पढ़ा है। तो फिर पुराणकारों को इतनी ब्यौरेवार जानकारी कहां से मिलती है ? कुछ लोग इन बातों को कवि-कल्पना कहकर छुट्टी पाते हैं। मगर ऐसा नहीं कहा जायगा कि स्वर्ग और नरक जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। यदि कर्म का सार्वभौम सिद्धान्त मानें तो स्वर्ग और नरक को भी मानना ही पड़ेगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही सही ज्ञान है और आनुमानिक सब झूठा है, यह मानना गलत है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान में जिस प्रकार गलतियां हो सकती हैं, उसी प्रकार अनुमान में भी हो सकती हैं। मगर दोनों जड़मूल से झूठे हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनुमान का आधार प्रत्यक्ष पर है और अनुमान का शास्त्र इतना विकसित हुआ है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में यदि गलती न हुई हो तो उसके आधार से निकाले हुए अनुमान में गलती हरगिज नहीं होनी चाहिए। यह शास्त्र इतना परिपक्व बन चुका है।

हम अपने जीवन की परिपाटी का नियंत्रण जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार हमारे चारों ओर फैले हुए इस विश्व का भी नियंत्रण करने वाली कोई शक्ति होनी ही चाहिए, ऐसा पिंड-ब्रह्मांड न्याय से सिद्ध होता है; क्योंकि पिंड और ब्रह्मांड में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है, द्वैत नहीं है।

सृष्टि के व्यवहार की ओर जब हम देखते हैं, तब कर्म का सार्वभौमत्व मालूम होता है। कर्म और उसका फल, इनका सम्बन्ध सनातन है, अटल है। इतना अनुभव होने के बाद और इस बात का विश्वास होने के बाद कि कर्म का फल मिलना ही चाहिए, स्वर्ग और नरक को मानना ही पड़ता है। लेकिन इस

स्वर्ग और नरक का स्वरूप क्या होगा, यह प्रश्न बाकी रहता ही है।

मनुष्य को जाग्रति का अनुभव है, और इस बात का भी अनुभव है कि जब नींद गहरी नहीं लगती, तब अच्छे-बुरे स्वप्न भी आते हैं। लोग मानते हैं कि इन अनुभवों में से जाग्रति का अनुभव सत्य है और स्वप्न का अनुभव मिथ्या है। लेकिन ऐसा हम क्यों मानें ? दोनों अनुभव ही हैं और अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। सिर्फ इतना ही फर्क है कि स्वप्न का अनुभव क्षणिक होता है और जाग्रति का दीर्घकालीन। और भी एक विशेषता है कि स्वप्न का अनुभव जाग्रति में बाकी नहीं रहता। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया, इन चार अनुभवों में से महज तुरिया अवस्था का ही अनुभव सत्य है, ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं है। किन्तु बाकी के तीनों में से एक को सत्य माना तो दूसरे दोनों को भी सत्य मानना ही पड़ेगा। इतनी बात ध्यान में रखकर अब हम दूसरी तरफ से इस प्रश्न पर जरा सोचें।

हम जब रोज सोते हैं, तब जाग्रति को भूलकर शरीर को कुछ आराम मिलता है और वह ताजा बनता है। नींद गहरी पड़ने पर मन को भी विश्राम मिलता है और वह भी ताजा बनता है।

लेकिन जाग्रतावस्था में भी और नींद में भी शरीर का कारोबार चलता ही है; क्योंकि शरीर जिन्दा है। इसका मतलब यह हुआ कि प्राण को विश्रांति नहीं मिलती। उसे अखंड रूप से काम करना पड़ता है। लेकिन इस प्राण को भी तो कभी-न-कभी विश्रांति की आवश्यकता होगी ही। वह उसे कब मिलेगी ? जिस प्रकार जाग्रति को भूलकर हम सो जाते हैं, उसी प्रकार शरीर का विसर्जन करके प्राण को भी विश्राम लेने देना चाहिए। इसलिए तो मौत की योजना हुई है। नींद को जितनी आवश्य-

कता है, उतनी ही मौत भी आवश्यक है। शरीर के लिए नींद जितनी पौष्टिक होती है, प्राण के लिए मौत भी उतनी ही पौष्टिक है। थके-मांदे के लिए योग्य समय पर मौत का आना इष्ट ही है।

जीवन जिस प्रकार एक क्षण न होते हुए एक मुद्दत है, दीर्घ कालावधि है, उसी प्रकार मौत भी एक क्षण न होकर सुदीर्घ कालावधि होना चाहिए। जाग्रतावस्था की थकान दूर करने के के लिए जिस प्रकार हमें नींद भर सोना चाहिए, उसी प्रकार बहुत जीने के बाद भरप्राण मरने का भी स्वागत करना चाहिए।

नींद चलते समय जिस प्रकार अनुभव, कल्पना, वासना इनके योग से अच्छे-बुरे स्वप्न आते हैं, उसी प्रकार मरण-काल में जीव को अच्छे-बुरे स्वप्न आते हैं, उन्हीं को स्वर्ग और नरक कहा है। स्वप्न में जिस प्रकार स्वप्न सत्य होते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग और नरक भी अपनी-अपनी जगह पर सत्य-रूप होते हैं। अच्छे-बुरे स्वप्नों को भंग करके हम जाग्रत होते हैं और नींद के पहले की जाग्रति से कड़ी जोड़कर पुरुषार्थ को आगे चलाते हैं। उसी प्रकार मरण-काल में अनुभव किया हुआ स्वर्ग या नरक पूर्ण करने के बाद मनुष्य को पुनर्जन्म मिलता है और पूर्व-कर्म के अनुसार अच्छा-बुरा जन्म मिलने के बाद उसका पुरुषार्थ पिछले अंक से आगे चलता है। स्वर्ग और नरक पुरुषार्थ की कर्म-भूमि नहीं हैं, बल्कि वासनाओं की भोगभूमि है। इसलिए वहां पुण्य या पाप के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव होते हुए भी उनका (पुण्य और पाप का) क्षय नहीं होता। पुण्य-पाप का हिसाब पुनर्जन्म के समय हाथ में लेकर आगे चलना होता है।

दिसम्बर, १९५३

२० / लोक-प्राप्ति

पुत्रम् अनुशिष्टम् लोक्यम् आहुः ।

पुत्र शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'पुन्नाम् नरकात् त्त्रायते इति पुत्रः'**—जिस गृहस्थाश्रमी को संतान नहीं है, वह 'पुत्' नामक नरक में जा गिरता है, उसको अच्छे लोक की प्राप्ति नहीं होती। हमारे पुरखों की मान्यता थी कि संतान-उत्पत्ति के बिना मनुष्य का उद्धार नहीं है। उपनिषत्कालीन ऋषि भी कहते थे—**'प्रजा-तन्तुम् या स्वचच्छेत्सीः'** प्रजा-तन्तु यानी सन्तान-परम्परा, इसे तोड़ना नहीं चाहिए।

जो लोग आमरण ब्रह्मचर्य का पालन करके अध्यात्म-ज्ञान के द्वारा विश्वात्मैक्य तक पहुंचते थे, उनके लिए विवाह की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन जो लोग इस तरह ब्रह्मप्राप्ति का सीधा रास्ता नहीं ले सकते, या नहीं चाहते थे, उनके लिए आदेश था कि केवल अमर्याद भोग-विलास का जीवन चलाने के हेतु विवाह से डरना और अकेले रहकर स्वार्थमय जीवन व्यतीत करना धर्म को मान्य नहीं है। अगर स्त्री-पुरुष को परस्पर सहवास का सुख लेना है तो अपनी सामाजिक जिम्मेदारी पहचानकर सन्तान को जन्म देना और कुल-परम्परा चालू रखना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

लेकिन केवल सन्तानोत्पत्ति पशु का धर्म हुआ। श्रुति कहती है कि पुत्र को पैदा करने से ही उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होती। जब पिता अपने पुत्र को सब तरह का जीवनोपयोगी ज्ञान देता है, उसको संस्कार-सम्पन्न और कर्म-कुशल बनाता है, तभी ऐसे पुत्र के कारण पिता को अच्छे लोक प्राप्त होते हैं, पिता का उद्धार होता है।

स्वर्ग-नरक, अच्छे लोक, बुरे लोक—ये सब क्या हैं?

मनुष्य मरने के बाद इसी विश्व में, जो अच्छी या बुरी स्थिति प्राप्त करता है वह है उसका लोक। हरएक मनुष्य अपनी मृत्यु के बाद अपने समाज में लोगों की यादगार में, स्मरण-रूप या प्रेरणा-रूप रहता है, वह है उसका लोक। अगर उसका जीवन भर का कार्य बुरा या सदोष रहा तो उसके लोक अच्छे नहीं हैं। ऐसे आदमी को नरकवासी कहते हैं। अगर कोई आदमी परोपकार करता है, समाज में अच्छे संस्कार चलाता है और मजबूत करता है तो वह आदमी उत्तम लोक को पहुंचा।

जिस तरह हम अपने भले या बुरे कर्मों के द्वारा स्वर्ग-लोक या नरक-लोक पाते हैं, उसी तरह अपने पुत्र को हम जैसी शिक्षा देते हैं, वैसे ही लोक हमें प्राप्त होते हैं। पुत्र को हम समाज में अपने प्रतिनिधि के रूप में छोड़कर चले जाते हैं, इस लिए सन्तान-प्राप्ति के साथ मनुष्य को चाहिए कि वह उसे शुभ संस्कार दे, संकल्प-सामर्थ्य दे, चारित्र्य-तेज दे, तभी लोग कहेंगे कि इस आदमी ने अपने पीछे अपनी सन्तानों के द्वारा समाज में खुशबू फैलाई है, इसकी सन्तान-परम्परा समाज के लिए आशीर्वाद की जैसी है। यहीं है मनुष्य का स्वर्गलोक।

'पुत्रम् अनुशिष्टम् लोक्यम् आहुः, इस ऋषि-वचन का अर्थ अब स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य अपनी मृत्यु के बाद अपने पुत्र, अपने शिष्य, अपने सहपाठी, अपने धर्म-बन्धु, व्यवसाय-बन्धु, सह-योगी, समाज-सेवक आदि विशाल परिवार के रूप में जिन्दा रहता है। जितने लोग उसे जानते हैं, याद करते हैं, उनके द्वारा वह जीवित रहता है। यह जो मरणोत्तर समाज-गत जीवन है, उसीको संस्कृत में 'सांपराय' कहते हैं। ऐसे 'सांपराय' का वायु-मण्डल अगर शुभ संस्कारी रहा तो हम मानते और कहते हैं कि मरनेवाले को उत्तम लोक की प्राप्ति हो गई। इसके विपरीत, अगर 'सांपराय' का वायुमण्डल हीन रहा तो प्रेत व्यक्ति को

हीन लोक मिला। पुत्रों का जैसा अनुशासन होगा, वैसा लोक पिता को मिलेगा। इस वास्ते अपने मरणोत्तर कल्याण की इच्छा रखनेवाले को चाहिए कि वह अपने औरस और सांस्कृतिक पुत्रों को उत्तमोत्तम शिक्षा और अनुशासन प्रदान करे।

अप्रैल, १९५८

२१ / पुनर्जन्म की उपयोगिता

पुनर्जन्म पर हमारे देश के लोगों का विश्वास इतना गहरा है कि उसके बारे में किसी के मन में संदेह होना असम्भव-सा मालूम होता है। पुनर्जन्म है, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई सबूत नहीं है। पुनर्जन्म नहीं है, यह सिद्ध करना भी आसान नहीं है। मनुष्य को मृत्यु का नित्य दर्शन होता रहता है। जितने पैदा होते हैं, वे सब मरते ही हैं। इसमें कोई अपवाद नहीं है, यह अनुभव की बात है। फिर भी जीवन-सातत्य पर मनुष्य की जो श्रद्धा है, उसमें किसी तरह की कमी नहीं हुई है।

जीवन-सातत्य पर मनुष्य की श्रद्धा जिस कदर है, इसीलिए उसकी पुनर्जन्म पर विश्वास रखने की इच्छा होती है। उसे लगता है कि पुनर्जन्म होना ही चाहिए। इस खयाल को लेकर हम चलेंगे, तभी हमें एक तरह से अमरता मिल सकेगी। पुनर्जन्म की कल्पना के आधार पर ही हम कार्य-कारण भाव और कर्म का सिद्धान्त सिद्ध कर सकते हैं। यह भी एक सुविधा ही है और पुनर्जन्म पर मनुष्य का एक दफे विश्वास बैठ गया कि उसे लगता है, अब दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। सत्य की एक व्याख्या यह है कि उसके विरुद्ध की कोई भी बात गले उतरती ही नहीं।

इतना तो सही है कि पुनर्जन्म की कल्पना को लेकर चलने

से जीवन-सम्बन्धी कई चीजें जितनी मुआफ़िक हो आती हैं, उतनी दूसरी तरह नहीं आतीं। थोड़े में कहें तो पुनर्जन्म की कल्पना हमारी मनोरचना के लिए सब तरह से अनुकूल है। इसलिए उसे स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं मालूम होती।

मेरे इस कथन से कोई यह खयाल न करे कि मैं, पुनर्जन्म नहीं है, यह सिद्ध करना चाहता हूं। पुनर्जन्म पर विश्वास रखने की आदत मुझे भी है। पुनर्जन्म मानकर ही मैं चलता हूं। पुनर्जन्म हो सकता है, इतना तो मेरा मन हमेशा स्वीकार करता आया है। पुनर्जन्म की कल्पना तर्क की विरोधी नहीं है, उलटे कई तरह से अनुकूल है। मैं इस बात को स्वीकार करता हूं। इसलिए पुनर्जन्म है या नहीं, इसमें से एक भी बात को मैं आज सिद्ध करना नहीं चाहता। पुनर्जन्म हो सकता है यह मानकर ही मैं चलना चाहता हूं। आज मुझे यहां सिर्फ इतना ही बताना है कि पुनर्जन्म को मानने से हमारे जीवन पर क्या-क्या असर होता है।

आत्मा है और वह अमर है, यह मान्यता मुख्य है। आत्मा है, और शरीर के मरने पर भी उसकी मौत नहीं होती, इतना स्वीकार किया तो पुनर्जन्म पर हम आ ही जाते हैं। आत्मा जब शरीर धारण करती है, तब जीवात्मा बनती है, या यों कहें कि आत्मा जब जीवदशा पर आती है, तब उसे देह धारण करनी पड़ती है। देहधारी के लिए मौत है ही। लेकिन यह मौत सिर्फ शरीर की ही होती है, शरीर के साथ उत्कट स्मृति की भी होती होगी। लेकिन जीवन की मौत नहीं होती। इतना स्वीकार करने के बाद, और जीवन में जो ज्ञान, अनुभव और संस्कार हम प्राप्त करते हैं, वे नष्ट नहीं होते, इस श्रद्धा के वश होने के बाद, हमें पुनर्जन्म को स्वीकार करना ही पड़ता है।

पुनर्जन्म पर विश्वास रखने से दो बातें ग्रासान हो जाती हैं। संसार में जहां-तहां जो ग्रन्याय हुग्रा करता है, उससे हमारा मन ग्रकुला जाता है। हमें कभी-न-कभी न्याय जरूर मिलेगा, इस विश्वास के लिए कोई ग्राधार नहीं है। इस हालत में पुनर्जन्म की कल्पना हमें काफी मददगार सिद्ध हुई है। इस जन्म में जो न मिला, वह ग्रानेवाले जन्म में जरूर मिलेगा, मन को यह समझाने में कठिनाई महसूस नहीं होती।

मृत्यु का मुकाबला करते समय भी पुनर्जन्म की कल्पना हमें काफी मददगार होती है। दूसरी तरफ से देखें तो पुनर्जन्म की कल्पना हमारे लिए कतई हानिकारक नहीं है। इसीलिए लोग पुनर्जन्म को ग्रासानी से ग्रौर ग्रातुरता से स्वीकार करते हैं।

पुनर्जन्म की कल्पना हमें कहां हानिकारक मालूम होती है, यह ग्रब हम देखें। एकाध मिसाल से शायद यह खयाल ज्यादा साफ होगा।

प्राथमिक शालाग्रों के शिक्षकों को छड़ी का प्रयोग करने की ग्रादत होती है। बच्चों का जीवन सनातन काल से जिस ढंग से चलता ग्राया है उसका खयाल न होने से शिक्षक ग्रपनी संस्कारी या ग्रसंस्कारी इच्छा के ग्रनुसार बच्चों के लिए एक ढांचा बनाने की कोशिश करते हैं। बच्चे उस ढांचे में जब नहीं उतरते तब शिक्षक को खीज ग्राती है। वह मानता है कि मदरसे में उसका राज टूट गया है। इससे उसको गुस्सा ग्राता है। गुस्सा स्वभाव से ही हिंसक है। इसलिए उसकी बच्चों को पीटने की इच्छा होती है। बच्चों को पीटकर जब वह तृप्त होता है, तभी वह शान्त होता है। इसका मतलब यह है कि वह पीटता है—बच्चों के हित के लिए नहीं, बल्कि ग्रपने गुस्से का वेग शान्त करने के लिए। शिक्षक के पीटने से बच्चे डरते

हैं और शिक्षक की इच्छा के अनुसार चलने के लिए तैयार होते हैं। शिक्षक देखता है कि पीटना एक कारगर इलाज है। एक इलाज हाथ में आने के बाद वह दूसरा इलाज ढूंढ़ने या आजमाने क्यों जाय ? वर्ग में विषय पढ़ाते समय अगर बच्चों का ध्यान एकाग्र न हुआ तो वह अपना अध्यापन अधिक आकर्षक करने के बदले बच्चों को कहता है, "मैं जो कुछ कहता हूं, उस तरफ ठीक ध्यान रखना, वरना यह देखो छड़ी।" बच्चे फौरन ध्यान एकाग्र करते हैं। लेकिन विषय की तरफ नहीं, उस छड़ी की तरफ। विषय के साथ बेचारों का कुछ भी लेना-देना नहीं होता। उनकी दृष्टि से छड़ी अधिक सत्य है। इसलिए वे उसीके बारे में अधिक सोचते हैं। नतीजा यह होता है कि बच्चों की विचारशक्ति और ग्रहणशक्ति कुंठित हो जाती है। अब छड़ी को टालने का कोई इलाज ढूंढ़ना चाहिए। ग्रहण-शक्ति कुंठित हो जाने की वजह से वह मदद नहीं कर सकती। इसलिए छड़ी के जैसा ही कोई यांत्रिक इलाज ढूंढ़ना चाहिए। वह होता है रटने का। चित्त चाहे कहीं भी जाय, मुंह चल सकता है और कुछ प्रयत्न के बाद प्रश्नों का जवाब नींद में भी दिया जा सकता। मार के डर से आदमी जवाब कंठस्थ कर सकता है, यह अनुभव की बात है। लेकिन मार के डर से किसी की बुद्धि का या नीतिमत्ता का विकास हुआ है, ऐसा अनुभव नहीं है।

आगे चलकर विद्यार्थियों की आंखें पल भर के लिए भी अगर इधर-उधर गईं, तो शिक्षक की छड़ी बच्चे की पीठ पर पड़ी ही समझ लीजिए। छड़ी के उपयोग की जिस शिक्षक को आदत पड़ गई है, वह भलामानस शास्त्र और शिक्षण-शास्त्र क्यों देखने जायगा ?

लेकिन मैं जो यहां मिसाल देना चाहता हूं, वह इससे भी

अद्‌भुत है। खुद मैंने ही पूना के नूतन मराठी-विद्यालय में उसका अनुभव किया है। शुद्ध बोलना और शुद्ध लिखना व्याकरण सीखने से समझ में आ जाता है। उसी तरह कौन से प्रयोग शुद्ध हैं और कौन से अशुद्ध; यह भी व्याकरण सीखने से समझ में आता है। यह व्याकरण की 'व्याख्या' रटते समय कोई कठिनाई मालूम न हुई। लेकिन 'संज्ञा और विशेषण' के बीच का भेद समझने के बाद भी पाठ में कौन-सा शब्द 'संज्ञा' है और कौन-सा 'विशेषण', जब विद्यार्थी यह बता नहीं सकता था, तब उसपर छड़ी की बौछार पड़ती थी। पेशाब के लिए बाहर जाना हो तो दो छड़ी की 'स्टेम्प फी' अर्थात जुर्माना भरकर ही जाया जा सकता था। घर से बच्चे अगर फ़ीस न ला सके तो तीसरी तारीख से बच्चों को बढ़ते क्रम में छड़ी खानी पड़ती थी। छड़ी का इलाज इतना आसान और इतना कारगर है कि उसके हाथ में आने के बाद शिक्षक अपना दिमाग, ज़ीभ या मेहनत क्यों काम में लाये।

इस तरह किसी भी वस्तु का कार्य-कारण भाव सिद्ध करने के लिए पुनर्जन्म की निर्विवाद दलील हाथ में आने के बाद मनुष्य दूसरे कारण ढूंढ़ने ही क्यों बैठे? इस तरह नसीब और पुनर्जन्म (इसमें पूर्वजन्म भी आ जाता है) की दलील हाथ में आने के बाद लोगों में असाधारण बौद्धिक आलस्य आ जाता है, जो मानव-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि शास्त्रों की प्रगति को रोकता है और तीनों में विकृति पैदा करता है। नसीब और जमान्तर की दलील से निकम्मी और विकृत बनी हुई बुद्धि भौतिक पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र में भी निकम्मी हो जाती है और अच्छी-अच्छी खोज करने के सब मौके गंवाती है।

जमान्तर की दलील की जिन लोगों को आदत होती है, वे न्याय, नीति और सदाचार के क्षेत्रों में भी बिलकुल निकम्मे

ग्रौर विकृत होते हैं। इसकी कई मिसालें पुराणों से हमें मिलती हैं। समाज-जीवन को कुरेदने वाला अगर कोई सबसे खराब गुनाह है तो वह है व्यभिचार। इसके लिए भी पिछले जन्म का सम्बन्ध जोड़कर उसका बचाव करने वाले पौराणिक हमारे यहां हैं।

ग्रादमी अपथ्य से बीमार पड़ता है, तब भी वह पुनर्जन्म के पापों की ढाल आगे करता है। जब इम्तहान में फेल होता है, तब अपनी पढ़ाई कच्ची थी, इसको स्वीकार करने के बदले वह पिछले, न देखे हुए अदृश्य दैव का कारण ढूंढ़ता है, यह भी उसी वृत्ति की एक मिसाल है। यह वृत्ति अगर दृढ़ हुई तो ग्रादमी पढ़ने के बजाय पूर्वजन्म के पापों का परिहार करने के लिए बारह-बारह सालों तक जप करने लगेगा।

मनुष्य पर तथा गरीब जनता पर जो अन्याय होता है, उसे देखकर तिलमिलाकर उसकी सहायता करने के लिए दौड़ने के बजाय, और अगर जरूरत पड़े तो पुरुषार्थपूर्वक अपना बलिदान देने के बजाय, लोग गरीबों के पूर्वजन्म को कोसते हैं और जो कुछ चल रहा है, वह ठीक ही चल रहा है, ऐसा मानकर या कह कर संतोष अनुभव करते हैं। अन्याय, अत्याचार, संकट ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जिसके लिए पूर्वजन्म की बात को छोड़कर आदमी अपनी कर्तव्य-बुद्धि का गला न घोंट सके।

लोभ के वश होकर कोई मां-बाप अगर अपनी जवान लड़की की किसी बूढ़े के साथ शादी कर दे और लोग दोष देने लगें तो वे कहेंगे कि उसके नसीब में अगर लिखा होगा तो ऐसे पति से भी उसको काफी सुख मिल जायगा और अगर वह विधवा हो जाय तो भी पूर्वजन्म के पाप और दैव, मां-बाप की सहायता के लिए हाजिर हैं ही।

सामाजिक कठोरता, अन्याय और अत्याचार को जन्मांतर

की कल्पना का इतना सहारा दिया जाता है कि हमने जिस प्रकार सरकार द्वारा शराबबंदी का कार्यक्रम आगे ले जाने की सोची है, उसी प्रकार सरकार द्वारा मदरसों से और धर्मोपदेशों में जो दैव और पुनर्जन्म की नसीहत दी जाती है, वह भी बंद कर देने की हमें सोचनी चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार माया की व्याख्या करते हुए कहा था कि कोई चीज जैसी है, वैसी क्यों है, इसका कारण या उत्पत्ति ढूंढ़ने पर भी जब हाथ नहीं आती, तब लोग उस स्थिति को 'माया' कहते हैं। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्त होते हुए भी उसमें मलिनता, एकांगिता का भान कहां से आता है ? इस सवाल का सीधा जवाब एक ही हो सकता है, "हमें मालूम नहीं है।" यही हम दूसरे शब्दों में कहते हैं कि "यह माया है।" इस प्रकार माया, दैव, पूर्वजन्म आदि बातें इस बात का इकरार करती हैं कि हमारी खोज करने की शक्ति थक गई है, रुक गई है।

किसी भी वस्तु का स्थूल या सूक्ष्म कारण ढूंढ़ते समय हमें इसी जन्म के अपने गुण-दोष, संयोग, करतूत आदि पहले जांच लेने चाहिए। सामाजिक परिस्थिति का असर कहां और कितना होता है, यह भी ढूंढ़ लेना चाहिए। इतना करने के बाद भी किसी घटना की उत्पत्ति न मिले तो मां-बाप या वंश-परंपरागत से प्राप्त हुए संस्कारों, स्वभाव की खूबियों और मर्यादाओं की खोज करनी चाहिए। जिस वस्तु का कार्य-कारण भाव इसी जन्म में मिल सके, उसे पहले ढूंढ़ निकालना चाहिए। इस प्रकार तमाम दिशाओं में कोशिशें करने के बाद कुछ बचे तो आदमी कह सकता है कि शायद पूर्वजन्म की किसी घटना का असर यहां काम कर रहा होगा।

जो पूर्वजन्म को मानते हैं, वे भी तो यह नहीं कहते कि, "हम

पूर्वजन्म की बातें जानते हैं।" इसलिए जब हम पूर्वजन्म को आगे करते हैं, तब उसके साथ 'होगा' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। 'है' कभी भी इस्तेमाल न किया जाय। जहां 'होगा' शब्द का प्रयोग होता है, वहां न भी हो' का स्वीकार होता ही है। सत्य की निष्ठा की खातिर, और बुद्धि की शुद्धि के लिए दोनों विकल्पों की संभावना को स्वीकार करके ही आगे चलना चाहिए।

पुनर्जन्म नहीं है, यह हम नहीं कह सकते, इसीलिए इसी आधार पर पुनर्जन्म है, कहकर अधिक व्यौरे में उतरना हमें शोभा नहीं देता। बौद्धिक आलस्य को छोड़कर उत्साहपूर्वक सत्य की खोज करते जायं, तभी हमें जीवन का रहस्य प्राप्त होगा। सामने के आदमी को इससे दूसरा कोई तजरबा आया हो, तो वह उसे मुबारक हो। सत्यनिष्ठ आदमी सब तरह से जांच करने के बाद ही कदम रक्खेगा और सामने आदमी की प्रामाणिकता को स्वीकार करने पर भी उसकी राय और मान्यताओं को झट स्वीकार नहीं करेगा।

पुनर्जन्म की कल्पना का सेवन खतरे से खाली नहीं है। इतना समझकर चलें तो काफ़ी है। यह विवेचन किसी की आलोचना करने के लिए नहीं, लेकिन अपनी सत्यनिष्ठा अधिक शुद्ध करने के लिए लिखा गया है।

अक्तूबर १९५४

२२ / मोक्ष-भावना

दुनिया को सब संस्कृतियों की तुलना करके देखने पर कहना पड़ता है कि हमारी संस्कृति की सर्वोच्च भावना मोक्ष की है। इसमें हमारी जाति ने जितना चिन्तन किया है, उतना

और किसी भी जाति ने नहीं किया होगा। हमारी मोक्ष-भावना गहरी है, एकाँगी नहीं है और उसे हम आसानी से छोड़ नहीं सकते। फिर भी हमारे जीवन-दर्शन में ही पिछले चंद वर्षों में इतना आमूलाग्र परिवर्तन हुआ है कि मोक्ष-भावना को फिर से स्पष्ट और स्थिर करना जरूरी हो गया है।

सामान्य मनुष्य के रोजमर्रा के जीवन का आदर्श इतना स्थूल और प्राकृत होता है कि उसकी चाहे जितनी अनिवार्यता सिद्ध हो, उसके बारे में आकर्षण सिद्ध नहीं होता। खाना, पीना, रहने के लिए घर बांधना, काम करने के लिए तरह-तरह के औजार तैयार करना, बाल-बच्चों की परवरिश करना, सामाजिक जीवन विफल न हो जाय, इस वास्ते कुछ नियम तैयार करना और कुटुम्ब, जाति, राज्य-व्यवस्था और पढ़ाई का प्रवन्ध आदि मानवी संस्थाएं चलाना—यही है मनुष्य का सामान्य जीवन।

इसमें संघर्ष का तत्व इतना अधिक पाया जाता है कि संघर्ष में सफलता पाने की पूर्व-तैयारी भी करनी पड़ती है और संघर्ष को टालने को कोशिशें भी करनी पड़ती हैं।

स्वाभाविक यह था कि जीवन को सफलता में जो बाधाएं आती हैं उनको दूर करने के लिए जो कोशिशें हम करते हैं, उन्हीं का हम मोक्ष-साधना के रूप में स्वीकार करते। लेकिन हमारे तत्वज्ञान ने संसार को निस्सार बताया और पतन से वचने के लिए मोक्ष का रास्ता ढूंढ़ निकाला। हमारे मायावाद ने दार्शनिक शुद्धि का उच्चांक भले ही प्राप्त किया हो, जीवन के बारे मेंमायावाद ने सामान्य जनता के मनमें अनादर और अनुत्साह ही पैदा किया। हम इस दुनिया में आये, यह गलती हुई है। सिर्फ भागने से मुक्ति नहीं मिलती। हमारा बन्धन जितना बाह्य है, उतना आन्तरिक भी है। इसलिए जीवन का विस्तार छोड़कर वासना पर विजय पाने की ही कोशिश करनी चाहिए।

अलिप्त जीवन ही उत्तम जीवन है। यही हो गई हमारी मोक्ष की भावना। हमने माना कि मोक्ष और निवृत्ति एक ही चीज है अथवा निवृत्ति के द्वारा मोक्ष मिल सकता है और निवृत्ति के मानी हुए जितना भी काम हम कर सकते हैं, करना।

लोग कहते हैं कि आप गलत अर्थ कर रहे हैं। निवृत्ति और मोक्ष का उपदेश करने वाले लोगों का जीवन देखिये। कितना प्रवृत्तिमय था वह! शंकराचार्य ने थोड़ी उम्र में भाष्य लिखे, प्रकरण लिखे, स्तोत्र लिखे, देश का भ्रमण करके शास्त्रार्थ किये। चार मठों की स्थापना की। संन्यासियों के दसनामी अखाड़े चलाये, चार प्रकार के ब्रह्मचारी बनाये। हिन्दू धर्म को एक नया रूप दिया। पंचायतन-पूजा चलायी और माता की अन्तिम सेवा करके अपनी मातृभक्ति का प्रमाण दिया। प्रवृत्ति-शील आदमी इससे बढ़कर क्या कर सकता है? ज्ञानेश्वर, रामदास, कबीर, तुलसीदास आदि सब सन्तों को देखिये। उन्होंने निवृत्तिपरायण प्रवृत्ति के ढेर या पहाड़ लगा दिये।

बात सही है; किन्तु इनके शिष्यों में और सारे समाज में कुछ भी न करने की ही बात रही। स्वार्थवश और महत्वा-कांक्षावश लोगों ने चाहे जितने बड़े-बड़े काम किये हों, परन्तु मोक्ष-परायण साधना के फलस्वरूप अकर्मण्यता ही बढ़ी। साधुओं ने अखाड़े चलाये, खाने-पीने के प्रबन्ध किये, अतिथियों को खिलाया और पूजा तथा उत्सव के तांते लगाये। लेकिन उनका जीवन प्रवृत्तिमय, समाज-सेवामय थोड़ा ही कहा जा सकता है? उपेक्षा, निरुत्साह और परलोक-परायणता, इन्हीं का वायुमण्डल समाज में फैला!

अब हमारी मोक्ष की कल्पना बदल गई है। मोक्ष यानी षड्रिपु के आक्रमण से मुक्ति। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इस शरीरपरस्त, असामाजिक स्वभाव से मन को

मुक्त करना और समाज की तटस्थ, अनासक्त, निरपेक्ष सेवा करते-करते विश्व के साथ, सबके साथ अपनी आत्मीयता का अनुभव करना, यही है मोक्ष-भावना। इसमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा-विषयक पारतंत्र्य को दूर करना, समाज में फैली हुई असामाजिक प्रवृत्तियों को रोकना, अज्ञान, अन्याय, शोषण और संघर्ष के वायुमंडल से समाज को छुड़ाना, यह भी मोक्ष-भावना का ही अंग है। मोक्ष के मानी हैं दोष, एकांगिता, संकुचितता, अकर्मण्यता, विलासिता आदि दोषों से मुक्त बनाकर समाज को शुद्ध, समर्थ, स्वायत्त और जीवन-समृद्ध बनाना।

मोक्ष की हमारी यह शुद्ध भावना ही ऐसी है कि समाज के मोक्ष के विना व्यक्ति को संतोष नहीं होता। लेकिन व्यक्ति को अपना मोक्ष पाने के लिए समाज की सार्वत्रिक मुक्ति की राह देखने की जरूरत नहीं है। किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति को अपना मोक्ष मिल ही सकता है और अपना मोक्ष—'प्रत्येक' मोक्ष पाने के साथ सामाजिक मोक्ष के लिए समाज की सेवा करने की वृत्ति, शक्ति और युक्ति बढ़ती जाती है। इस अर्थ में मुक्ति सद्योमुक्ति भी है और क्रममुक्ति भी है।

मोक्ष की ऐसी व्यापक और शुद्ध भावना के साथ मोक्ष की साधना भी व्यापक, उत्कट और सर्वांगीण बनने लगी है। उसका गहरा चिंतन अभीतक हुआ नहीं है, इसलिए हमारी आध्यात्मिक प्रवृत्ति में कर्मवीरता अभी आई नहीं है। वह आयेगी जरूर, अवश्यमेव आयेगी।

१-५-६२

२३ / क्षण-क्षण पुनर्जन्म

जिनके पास अनेक प्रान्तों से, अनेक देशों से और अनेक विषयों में दिलचस्पी रखने वाले लोगों के खत हमेशा आते हैं, उनका यह अनुभव होगा। जो खत आते हैं उनमें से चन्द तो ऐसे कार्यकर्ताओं के होते हैं, जिन्होंने किसी एक काम के लिए अपना जीवन अर्पण किया है। ऐसे लोग अपनी अनुभव की और काम की ही बातें लिखते हैं। चन्द लोग तत्त्वचिंतक होते हैं। उन्हें तरह-तरह की बातें सोचने की आदत पड़ जाती है।

ऐसी हालत में जिसको अपना पत्र-व्यवहार हद से बढ़ जाने का डर रहता है, वह अपने जवाब में कोई सवाल पूछने की गलती नहीं करता। सम्पूर्ण जवाब भेज दिया और छुट्टी पाई। अगर कोई चीज अस्पष्ट रही तो फिर से खत आयेगा। सवाल पूछा तो जवाब में लम्बा-चौड़ा खत आयगा। फिर उसका जवाब भेजना पड़ेगा और खत-पत्रों का तांता बढ़ता जायगा। इसलिए चतुर पुरुष, जिसके पास अपनी शक्ति जितनी ही प्रवृत्ति चलाने की जीवन-कला है वह इस बात का खास प्रयत्न करता है कि अपना जवाब आखिरी हो और उसके बारे में फिर से कोई खत न आये।

पुनर्जन्म को टालने की बात ऐसी ही है। जो प्राप्त कर्तव्य है, उसे निष्काम भाव से पूरा करना, फल मिले या न मिले, उसके बारे में उदासीन रहना और सबसे महत्व की बात तो यह कि जो कुछ भी प्रवृत्ति हम करते हैं, उसमें से कोई नया संकल्प न उठने पाये और पुराने संकल्प की कोई दुम, उसका कोई अवशेष न रहे, इसके लिए सावधान रहना। यही है सच्चा तरीका पुनर्जन्म टालने का।

साधारणतया लोग सोचते हैं कि मृत्यु के बाद दूसरा जन्म

न आये, यही मोक्ष का हेतु है। लेकिन पुनर्जन्म तो हम कदम-, कदम पर बनाते हैं, खड़ा करते हैं। यह कोई अन्तकाल के क्षण की चतुराई की बात नहीं है। वेदान्त का ज्ञान हुआ, विश्वात्मैक्य का आदर्श जंच गया, पक्षपात, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष, कुछ भी न रहा तो मनुष्य की मोक्ष की तैयारी हुई। इसके साथ इतनी जागरूकता होनी ही चाहिए कि हर तरह के कर्तव्य अदा करते हुए कोई नया संकल्प खड़ा न हो, किसी नई कामना के-वश हम न हो जायं, जिससे उस नये संकल्प की पूर्ति के लिए फिर से जन्म लेना पड़े।

जब गीता या वेदान्त के दूसरे ग्रन्थ मैं पढ़ता था तब मन में एक विचार आता था कि 'निष्काम कर्म' कहने की अपेक्षा अगर सीधा-सादा कहा होता 'निःस्वार्थ कर्म' तो क्या वह ज्यादा स्पष्ट नहीं होता ? राष्ट्रसेवा करते हुए या ज्ञान की उपासना में शोध-खोज करते हुए अगर स्वार्थ को छोड़ा, निःस्वार्थ भाव से सब काम किया, तो जीवन का नैतिक स्तर ऊंचा हो ही जायगा। तो गीता ने और हमारे वेदान्ती पुरखाओं ने क्यों नहीं सीधा कहा कि स्वार्थ को छोड़ दो, निःस्वार्थ भाव से कर्म करो ?

स्वामी विवेकानन्द ने एक जगह पर स्पष्ट लिखा है कि फल की स्पष्ट कल्पना और अपेक्षा किये विना कोई मन्द आदमी भी कर्म नहीं करेगा। अगर मैं किसी मरीज की सेवा करता हूं, या उसे दवा देता हूं, तो मरीज को रोगमुक्त करना, यह उद्देश्य तो होना ही चाहिए। दवा के नाम से कुछ दिया और मन में सोचा कि 'परिणाम जो होना हो सो हो', तो ऐसी बेदरकारी को कोई वेदान्ती वृत्ति नहीं कहेगा। जब मैं स्टेशन की ओर जाता हूं तब फलां गाड़ी में सवार होने की दृष्टि से जाता हूं। इसलिए समय पर पहुंचना चाहता हूं। ऐसे फलों की आशा रहती ही है, रहनी भी चाहिए। जब आग बुझाने के लिए मैं बम्बा चलाता हूं तब

यह नहीं कहता कि पानी तो डालता जाऊंगा, आग बुझे या न बुझे, इसका खयाल मैं क्यों करूं? जब पानी डालते हैं तब आग पर ही डालते हैं, कहीं तो नहीं फेंकते। इसलिए वेदान्त ने स्पष्ट किया है कि जो कर्म करना है, वह कौशल्ययुक्त करना है। फल या प्रयोजन या उद्देश्य तो मन में रहेगा ही। लेकिन फल का अगर संग रहा, फिर वह स्वार्थ का हो, परोपकार का हो, या अभिमान का हो, या परम्परा चलाने का हो, तो वह बन्धन पैदा करता ही है; क्योंकि संग से संकल्प आते हैं, जिनका दूसरा नाम है पुनर्जन्म। किसी मराठी संत ने ठीक ही कहा है कि बीज का अगर उपयोग करना है तो उसे भूनकर करो, ताकि उसमें नया अंकुर फूटे नहीं। बीज खाना तो है ही, लेकिन उसके अंकुर बढ़ाकर विस्तार नहीं करना है।

परमात्मा की सृष्टि परमात्मा की इच्छा के अनुसार चलेगी या बन्द होगी, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। हमारा काम तो भगवान की दुनिया में आने के बाद अपनी जिम्मेदारी कौन-सी है, यही देखने का है। कई संन्यासी और समाज-सेवक शादी नहीं करते, इसीलिए कि उनकी प्रजा का बोझ समाज को या किसी को उठाना न पड़े। लेकिन समाज में जो प्रजा मौजूद है, उसकी सेवा तो वे प्राणपण से करते हैं।

संकल्प और संग ही पुनर्जन्म है, जिसे क्षण-क्षण सावधान रहकर टालना चाहिए।

१२-२-५७

२४ / दीर्घायुता का रहस्य

अभी मैंने ८०वां वर्ष पूरा किया नहीं है। तो भी लोग पूछने लगे हैं, "आपकी दीर्घायुता का रहस्य क्या है?" दूसरा

प्रश्न पूछा जाता है, "इस उम्र में आपका उत्साह कायम है, इसका भी रहस्य क्या है ?" चन्द लोग मानते हैं कि आश्रम-जीवन का यह असर होगा।

मुझे आश्रम-जीवन प्रिय है। किन्तु कठिन तपस्या के तौर पर मैंने आश्रम-जीवन को स्वीकार किया हो नहीं था। स्वादिष्ट अथवा मसालेदार भोजन का रस मैं जानता हूं, लेकिन उसके प्रति विशेष आकर्षण कभी था ही नहीं। इसलिए मिर्च नहीं खाना, मसालेदार चीजों का बहिष्कार करना, आदि नियम मेरे लिए कष्टदायक साबित नहीं हुए। मैं गांधीजी के आश्रम में रहने गया, उसके पहले भी ऐसे बहुत से नियम मैंने आजमाये थे। बड़ी चुस्ती से वर्षों तक उनका पालन किया था। उनसे मुझे लाभ भी हुआ। लेकिन जब देखा, ऐसे नियमों की अब विशेष जरूरत नहीं है, तब मैंने नियम के तौर पर आग्रह नहीं रक्खा।

लाला लाजपतराय के निर्वासन—देश-निकाले की बात सुनी, तब मैंने छह बरस के लिए चीनी न खाने का व्रत लिया। व्रत लिया, तो उसका पालन भी अच्छी तरह से किया। जब छह वर्ष पूरे हुए, तब मैं रामकृष्ण मिशन के एक उत्सव में शरीक हुआ था। उस दिन तरह-तरह की बंगाली मिठाइयां बनाई थीं। मैंने रसपूर्वक खाईं।

जब चीनी छोड़ दी, तब गुड़ खाने का नियम नहीं था। लेकिन मिठाइयां छह वर्ष तक खाई नहीं थीं। चीनी का और मिठाइयों का स्वाद ही भूल गया था। इसलिए इतने दीर्घ-काल के बाद जब मिठाइयां खाईं, तब ऐसा ही लगा कि जिन्दगी में एक नये ही स्वाद का प्रथम अनुभव कर रहा हूं। मेरी रसना ने उस दिन के उत्कट स्वाद की दिलोजान से कद्र की। बड़ा आनन्द आया। लेकिन ऐसा पश्चात्ताप मन में नहीं हुआ कि छह वर्ष के लिए ऐसे स्वाद से अपने को वंचित रक्खा, यह गलती हो

हुई। दूसरे दिन से चीनी का या मिठाइयों का कुछ विशेष आक-र्षण न रहा। तब से मैंने चीनी न खाने का व्रत नहीं लिया। लेकिन कह सकता हूं कि तब से आजतक मैंने चीनी बहुत खाई ही नहीं। नियम के बिना ही संयम चलता आया है। किसी ने स्वादिष्ट चीज खाने को दे दी, तो खाली। चित्तवृत्ति मिष्ट वस्तु के प्रति दौड़ती ही नहीं। आश्रम-जीवन का असर समझाने के लिए यह उदाहरण बस है।

आहार की मात्रा हद से ज्यादा न हो। सारे दिन खाते रहना कितना विश्री है, इसका खयाल रहे, विशेष भूख न होते हुए भी केवल स्वाद के लिए खाना, असंस्कारिता की निशानी है, इतना ध्यान में रखना, निषिद्ध आहार का सेवन नहीं करना, इत्यादि सादे नियम चलाना काफी है।

मैं मानता हूं कि सत्य और संयम, ये दो बातें मनुष्य-जीवन को प्रतिष्ठा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। संयम केवल कामो-पभोग यानी विषय-वासना के बारे में ही नहीं, किन्तु संयम वाणी का भी हो। सब तरह के जीवन-व्यवहार में संयम के बिना, सर्वांगीण जीवन-विकास हो नहीं सकता। किसी एक चीज में वह जाना, कभी-कभी हितकर भले ही हो, सर्वांगीण विकास की दृष्टि से वह हितकर नहीं है, इतना जिनके मन में बराबर बैठ गया है, उनका जीवन सुसूत्र होगा ही।

चाव से खाना रसिकता का लक्षण है। ज्यादा खाने में पेटू-पन है। बचपन से ही इस बात में मैं सतर्क हूं। किसी समय मेरा आहार प्रमाण से अधिक था सही, लेकिन वे जवानी के दिन थे, चल गया। अब खाते समय मेरा ध्यान आहार की मात्रा की ओर हमेशा रहता ही है। सफर में जब शंका होती है कि शाम का भोजन मिलेगा या नहीं, तब अवश्य हिम्मत करके थोड़ा अधिक खा लेता हूं। लेकिन वह भी इरादा-पूर्वक होता है। चीज

स्वादिष्ट है, इस वास्ते हद से ज्यादा खाऊं, तो अपने सामने ही अपनी प्रतिष्ठा मैं खो बैठूं।

महायान बौद्धों का एक सुन्दर संस्कृत ग्रन्थ है 'बोधिचर्या-वतार'। उसका एक वचन मुझे अच्छा लगा है :

चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किम् मम व्रतैः।

"अपने चित्त को काबू में रखने के एक व्रत को छोड़कर दूसरे अनेक व्रतों से मेरा क्या मतलब ?" चित्त को काबू में रखने का एक ही व्रत मनुष्य के लिए काफी है। इसमें गफलत हुई तो बाकी के व्रत कुछ मदद नहीं करेंगे।

चन्द लोग कहते हैं कि ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य दीर्घायु होता है। '**मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्।**' ब्रह्मचर्य आरोग्य के लिए और आध्यात्मिक साधना के लिए उत्कट साधना है।

अनुभव कहता है कि शंकराचार्य जैसे कई विख्यात नैष्ठिक पवित्र ब्रह्मचारी अल्पायु थे, और कई विलासी लोग दीर्घायु हो सके थे।

मैं मानता हूं कि संयमी माता-पिता से जिन्हें अच्छा पिंड मिला है, वे अगर संयमी रहें तो उनका दीर्घायु होना स्वाभाविक है। श्रीकृष्ण जैसे गृहस्थाश्रमी सौ वर्ष से भी अधिक जीये। दक्षिण रूस में और काश्मीर के उत्तर में ऐसी कई जातियां हैं, जिनमें सौ वर्ष से अधिक जीनेवाले बहुत-से लोग पाये जाते हैं।

ताजा, स्वच्छ पौष्टिक मिताहार, अनुकूल परिश्रम, खुली हवा का जीवन और प्रसन्न मन, इतना संबल हो तो मनुष्य अवश्य दीर्घायु होगा।

मुझे तो दो दफ क्षयरोग भी हुआ था। बचपन में शरीर इतना दुर्बल कि गर्दन सीधी नहीं रहती थी। लेकिन मैं संभाल के चला। खूब सफर किया। जीवन के रस शुद्ध और ताजे रक्खे। कभी भी अति चिन्ता नहीं की। उत्साह और सन्तोष का

समन्वय किया। इससे अधिक तो ईश्वर-कृपा ही कह सकता हूं। सृष्टि अनाथ नहीं है। इसका संचालक अवश्य है। वह सृष्टि के अन्दर ही रहकर अपने नियम के अनुसार सबकुछ करना चाहता है। उसकी रचना और योजना हम पूरी समझ नहीं सकते। किन्तु ऐसी रचना और योजना है, इस विश्वास से शांति और बल मिलते हैं, इतना अवश्य कह सकता हूं।

बुढ़ापा या वार्धक्य की चिन्ता मुझे कभी हुई नहीं है। शक्ति और सामर्थ्य बढ़े, ऐसी इच्छा कभी की नहीं थी; इसलिए शरीर की और सब इन्द्रियों की शक्ति निसर्ग के क्रम से घटेगी, इसकी चिन्ता भी मुझे कभी नहीं हुई।

बचपन में कई शक्तियां मनुष्य में नहीं होतीं। बाद में वे आती हैं। इसका दुःख हमने कभी नहीं किया और प्रसन्नता से बचपन पूरा किया, तो बुढ़ापे में कई शक्तियां क्षीण हो गईं, इन्द्रियां काम नहीं देतीं, इसका दुःख भी हम क्यों करें ? कोई उपन्यास हो, उसका अन्त होना ही चाहिए। उपन्यास खत्म होने आया, लेखक अपना कथानक समेटने की तैयारी करता है, यह देखकर हम थोड़े ही दुःखी या चिन्तित होते हैं ? बचपन में बचपन के रसों का आनन्द लिया, बड़े होते ही बचपन की बातें बचपना कहकर छोड़ दीं, और प्रौढ़ उम्र में लायक प्रौढ़ महत्वांकाक्षाएं आजमाईं। उनका भी अनुभव हुआ। कई बातें निस्सार-सी मालूम हुईं। कई बातों का अनुभव मिलने पर तृप्ति हुई और जीवन के अनुभव-समृद्धि की शान्ति फैल गई। ये सब सन्तोष के ही विषय हैं।

जो पुरुषार्थ हमने शुरू किया, वही नये ढंग से और बड़े पमाने पर औरों को चलाते देखते अपार सन्तोष होता है।

जेल-निवास में जिस तरह का आहार मिला, उसके कारण दांत जल्दी बिगड़ गये। उनको निकालना पड़ा। उनकी जगह

दत्तक दांत बिठाये और काम चला।

आजकल के जमाने में अक्सर सबों की नजर छोटी होती है। सब लोग करते हैं, वैसे हमने भी चश्मे पहने। कान की शक्ति क्षीण हुई तो सभा-समितियों में जाना कम कर दिया और शहर में रहते हुए भी मोटरों की कर्कश आवाजों से बच गए, इसका आनन्द माना। और अब कान की मदद में एक कर्णिका आई है, उसकी सेवा लेता हूं। शरीर की शक्ति कम हुई तो भी यात्रा अभी मैंने नहीं छोड़ी है। सेवा का आनन्द मिलता है, सज्जनों का सहवास मिलता है, सृष्टि के विस्तार में भगवान के दर्शन होते हैं और शरीर और मन की ताजगी कायम रही है। शरीर चलता है, तबतक सफर नहीं छोड़ूंगा, और जिस तेजी से मैं सफर करता हूं, उतनी तेजी से न तो बुढ़ापा दौड़ सकता है, न मौत ही आक्रमण कर सकती है। इसलिए आत्मविश्वास हो गया है कि चलता रहूं, तबतक शरीर भी चलेगा।

और जिन्दगी में इतना घूमा हूं, इतना देखा है, इतना सोचा है कि बैठकर उसकी जुगाली करूं तो भी पच्चीस-पचास वर्ष निकल जायंगे।

और सबसे बड़ी बात यह है कि जिस स्वराज्य के लिए जीना था, वह स्वराज्य मिल गया। अब देश में देश का स्वर्ग बनाना या नरक, हम लोगों के हाथ की बात हुई। देश की आज की हालत देखकर दुःख होता है जरूर, लेकिन मन में निराशा नहीं है। हजारों वर्ष की सामाजिक और सांस्कृतिक गलतियों की कीमत चुकानी ही पड़ेगी। लेकिन हम परावलम्बिता से मुक्त हैं, यह लाभ कम नहीं है।

जो बातें बुढ़ापे के कारण मुझसे अब नहीं हो सकतीं, उनकी चिन्ता भी मैंने छोड़ दी है। नाहक की चिन्ता करके अपने को

क्षीण क्यों करें? बचपन जितना आनन्ददायक था, जवानी जितनी प्रोत्साहक थी, इतना ही बुढ़ापा शान्तिदायक, सन्तोषप्रद और चिन्तनानुकूल बना है। समस्त मानव-जाति अपनी जड़ता छोड़कर पुरुषार्थी बनने लगी है। जो भार आजतक हम देव और दैव के सिर पर छोड़ देते थे, वह अब हम अपने सिर पर लेने के जितने प्रौढ़, स्वावलंबी और पराक्रमी बने हैं, और समस्त मानव-जाति में पारिवारिकता का उदय होने के चिह्न दीख रहे हैं, यह सब देखने का और सोचने का आनन्द जब काफी मात्रा में मिल रहा है, तो बुढ़ापे के कारण मैं मायूस क्योंकर हो सकूं?

और जिस तरह शाम को थकान के साथ मीठी और गाढ़ निद्रा का आश्वासन सुखदायक होता है, उसी तरह विविधता से भरे हुए इस जीवन का यथासमय अन्त भी होने वाला है और यथासमय मृत्यु मित्र का साक्षात्कार अवश्य ही होने वाला है, यह आश्वासन मेरे लिए सबसे श्रेष्ठ है।

एक दफा किसी ने मेरी बात सुनकर मुझसे पूछा था, "भगवान ने अगर तुम्हारी मृत्यु छीन ली और तुम्हें अजरामर चिरंजीवी बना दिया तो क्या करोगे?" मैंने कहा, "इस जीवन का अन्त होनेवाला नहीं है, ऐसा डर अगर मन में छा गया तो मैं इतना घबड़ा जाऊंगा कि उस संकट से बचने के लिए मैं खुदकुशी ही करूंगा। मैं तो मानता हूं कि खुदा की अगणित नियामतों में सबसे श्रेष्ठ है मौत। मैं नहीं मानता कि परम दयालु परमात्मा मरने के हमारे अधिकार से हमें वंचित करेगा।"

शारीरिक पीड़ा से बचने की कोशिश जरूर करता हूं। शारीरिक और मानसिक वेदना बढ़ने से बेचैन भी होता हूं। (अब वह भी कम हो गया है); लेकिन मौत को तो मैंने एक

मित्र ही माना है। पूर्ण विराम भले न हो, लेकिन नये प्रस्थान के लिए जरूरी विराम तो वह है ही।
१९६५

२५ / उपसंहार

एक बंगाली कहावत है, मौत से बढ़कर—"तू मर जा", ऐसे वचन से बढ़कर कोई गाली या शाप हो नहीं सकता। मनुष्य मौत का नाम भी नहीं सुनना चाहता। रविबाबू के उपन्यासों में इस कहावत का जिक्र कहीं-कहीं पढ़ा है, लेकिन रविबाबू मौत को कभी भी अशुभ नहीं मानते थे। रविबाबू काफी जिये। किसी ने मुझसे पूछा कि रविबाबू की दीर्घायुता का कारण क्या है?

कवि की दीर्घायुता का कारण देना है तो वह वैज्ञानिक नहीं, काव्यमय ही होना चाहिए। मैंने कहा, "रविबाबू ने अपनी काव्यनिर्मिति के प्रारम्भ से ही जीवनसंध्या और मृत्यु पर लिखना शुरू किया। उनके चिन्तनात्मक काव्य में मृत्यु का जिक्र, परिचय और स्वागत बार-बार आते हैं। मृत्यु ने सोचा होगा, जहां सारी दुनिया मेरा तिरस्कार करती है, वहां यह एक कवि मुझे पहचानता है। मेरी ओर से मेरा सच्चा प्रचार भी करता है। उसे इस दुनिया में रहने देना ही अच्छा है। अपना पक्ष लेने वाला, अपना परिचय कराने वाला, इस दुनिया में कोई रहे तो इष्ट ही है।"

अथवा ऐसा भी हो सकता है कि रविबाबू के मुँह से अपने स्तोत्र सुनकर मृत्यु महाशय प्रसन्न हुए होंगे और उनको यहां से उठाकर ले आने का उन्हें सूझा भी नहीं होगा। जहां अति परिचय है, वहां अनवधान होता ही है।

अब जब मेरी उम्र हो चुकी है, लोग मुझसे वही सवाल पूछते हैं, "अपनी दीर्घायुता का कारण बताइये। आज भी आप सतत कर्मशील हैं, लगातार मुसाफिरी करते रहते हैं, तनिक भी अप्रसन्न या थके हुए मालूम नहीं होते, इसका कारण क्या है?"

अपने बारे में कोई बड़ा दार्शनिक या गंभीर जवाब देना मेरे लिए रुचिकर नहीं है। मैं चिरप्रवासी तो हूं ही, इसका लाभ लेकर मैंने विनोद में कहा, "जवाब आसान है। मैंने मृत्यु का चिन्तन तो काफी किया है, लेकिन मृत्यु की चिन्ता मैं नहीं करता। अब ये दो मेरे पीछे पड़े हैं, मुझे पकड़ना चाहते हैं; एक है 'बुढ़ापा' और दूसरा है 'मृत्यु'। ये दोनों काफी थके हुए हैं, पर पीछे तो पड़े ही रहते हैं। मुझे लेने कहीं पहुंच जाते हैं और लोगों से पूछते हैं कि फलां आदमी कहां है तो लोग कहते हैं, "अभी कल यहां थे, लेकिन पता नहीं, यहां से कहां चले गये।" दरियाफ्त करके, मेरा पता पाकर, नये स्थान पर हाँपते-हाँपते मुझे लेने पहुंचते हैं। वहां पर भी उन्हें वही अनुभव होता है। लोग कहते हैं, "आपने थोड़ी-सी देरी की। अभी यहां पर थे, लेकिन पता नहीं, यहां से कहां चले गये।"

जबतक मेरी जीवन-यात्रा तेजी से चलती है, 'बुढ़ापा' और 'मौत' मुझे पा नहीं सकते। उसे मैं क्या करूं! उन्हें टालने की मेरी तनिक भी कोशिश नहीं है और उन्हें पाने की उत्कंठा भी नहीं है। पुराने दोस्त किसी दिन मिलेंगे जरूर। जितनी देरी होगी, उतने ही प्रेम से आलिंगन देंगे।

और इन्शाअल्लाह फिर जुदाई नहीं होने देंगे।

परिशिष्ट

१ :: वसीयतनामा

रोमन लोगों का आग्रह था कि कोई भी आदमी अपना वसीयतनामा बनाये बिना न रहे। हर रोमन, जरूरत पड़ने पर, पुराना वसीयतनामा रद्द करके नया बनाकर रखता था। कहते हैं, वसीयतनामा किये वग़ैर अगर किसी की मृत्यु हो जाय, तो रोमन-समाज में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती थी।

हमारे देश में इससे बिल्कुल उल्टा वायुमंडल है। बहुत ही कम लोग अपना मृत्यु-पत्र बनाकर रखते हैं। वसीयतनामे के लिए 'मृत्यु-पत्र' शब्द प्रचलित होने के कारण ही शायद यह अरुचि पैदा हुई हो। अपनी मृत्यु की बात मन में लाते ही आदमी रंजीदा हो जाता है।

आलस्य और ढीलेपन के कारण भी वसीयतनामा बनाने की बात रह जाती है। हम हिन्दुस्तानियों के इस स्वभाव के कारण जब कभी क़िसी समर्थ पुरुष का देहान्त होता है, तब उसके पीछे कौटुम्बिक और आर्थिक अव्यवस्था हो ही जाती है और कई लोगों को भुगतना पड़ता है।

जिस आदमी के पास अपनी कोई विशेष जायदाद नहीं है, ऐसे आदमी को भी अपने पीछे अपने व्यवहार का व्यवस्था-पत्र या इच्छा-पत्र बनाकर रखना चाहिए।

ऐसा इच्छा-पत्र बनाते समय चंद बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

सयाने आदमी को चाहिए कि अपनी मृत्यु के बाद इच्छा-पत्र के द्वारा अपनी ही जिद्द चलाकर भूत के जैसा जीने का प्रयत्न वह न करे। कई धनी लोग अपने इच्छा-पत्र के द्वारा

अपने बच्चों के बच्चों के बच्चों को भी बांध लेना चाहते हैं। "मेरे लड़के की लड़की मेरी इच्छा के अनुसार शादी करेगी तो उसे इतना रुपया दिया जाय; वह न माने तो उसे कुछ भी न दिया जाय"—ऐसी-ऐसी शर्तें भी इच्छा-पत्र में दर्ज की जाती हैं। मर जाने के बाद भी ऐसे लोग अपनी ही चलाने की कोशिश करते हैं, जो मनुष्य को शोभा नहीं देता। कानून के बन्धन से और भावना के बन्धन से अपने उत्तराधिकारियों को जकड़कर बांध देना भविष्य-काल का द्रोह करना है। समय की और परिस्थिति की मांग के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता पीछे रहने वाले लोगों को होनी चाहिए। इच्छा-पत्र का उद्देश्य अव्यवस्था टालने का और योग्य व्यक्ति को अधिकार सौंपने का होना चाहिए, खासकर अधिकार के लिए झगड़े न हों, यह एक मुख्य उद्देश्य तो जरूर हो। पुश्त-दर-पुश्त अपनी ही वह एक व्यवस्था चलती रहे, ऐसा आग्रह हम क्यों रक्खें? काल बदलता जाता है। उसके आदर्श और उसकी आवश्यकताएं भी बदलती रहती हैं। इच्छा-पत्र के द्वारा जिन लोगों को हम अधिकार सौंप देते हैं, वे भी चिरजीवी नहीं होते। ऐसे लोग, पता नहीं, किस प्रकार के लोगों को अपने उत्तराधिकारी के तौर पर पसंद करेंगे। इसलिए, दीर्घकाल के लिए लागू हो, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। जो कुछ हम पीछे छोड़ जाते हैं, उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग जल्द-से-जल्द हो जाय, ऐसी ही व्यवस्था करनी अच्छी।

हरएक जमाने में अपरिवर्तनशील रूढ़िवादियों का एक पक्ष होता है और दूसरा प्रगतिशील लोगों का। धर्मशास्त्र के नाम से रूढ़िवादी किसी ग्रन्थ की या रिवाजों की उपयोगिता खत्म होने के बाद भी उसे जीवित रखने की कोशिश करते हैं। ऐसी हालत में, इच्छा-पत्र बनाने वाला अगर प्रगतिशील है, तो

उसे चाहिए कि वह अपना पक्षपात स्पष्ट शब्दों में जाहिर करे और नवोदित सुधारक पक्ष को मजबूत करे।

एक बात और सोचने लायक है।

पुराने लोग मानते थे कि अपनी जायदाद अपने लिए और अपनों के लिए ही है। ऐसे लोग अपने इच्छा-पत्र में अपने बाल-बच्चों का, सगे-सम्बन्धियों का या अपनी पीढ़ी के भागीदारों का अथवा जातिवालों का अधिकार ही मान्य रखते थे। मठ-पति अपने शिष्य-शागिर्दों को अपना उत्तराधिकारी बनाते थे। इससे ज्यादा व्यापक दृष्टि रही तो वह दयाधर्म या दानधर्म के रूप में प्रकट होती थी।

ऐसे लोगों को अब समझना चाहिए कि पुत्र, शिष्य या सगे-संबंधी आदि के लिए आवश्यकता से अधिक दे रखना, उनका अपमान करना है। उनके पुरुषार्थ और पराक्रम के बारे में हमें संदेह रहता है, तभी तो उनको अनहद जायदाद देते हैं। इससे बढ़कर अपमान कौन-सा हो सकता है? अपने पंगु, रोग-ग्रस्त जराजर्जरित और बिल्कुल असहाय, ऐसे दयापात्र रिश्ते-दारों के लिए जरूरी प्रबन्ध करना अलग चीज है और सिर्फ अपने रिश्तेदार होने के नाते अपनी सारी जायदाद उन्हीं में बांट देना, दूसरी बात है। इन रिश्तेदारों में जो छोटे बालक हैं, उनकी परवरिश की, और उनकी शिक्षा की कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर रखना उचित है। बहुत बूढ़े और बीमार लोगों का कुछ प्रवन्ध कर सकें तो बुरा नहीं, लेकिन हम इस विश्वास को न खो बैठें कि आखिरी अंजाम में हरेक व्यक्ति का मदद-गार समाज है। जो कोई भी व्यवस्था हम करें, उसकी बुनि-याद में समाज की सद्बुद्धि पर और ईश्वर की रचना पर विश्वास प्रकट होना चाहिए।

युगधर्म कहता है कि हमारी हस्ती, हमारा जीवन, उसका

पुरुषार्थ और उसकी सुरक्षा सारे समाज पर निर्भर है। हम सिर्फ अपने कुटुम्ब के लिए या जाति के लिए नहीं, बल्कि सारे समाज लिए हैं। समाज के हम घटक हैं। समस्त समाज के सहकार से ही हमारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पनप सका है। इसलिए हमारे जीवन का और कमाई का ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा उस विशाल समाज को ही पहुंचना चाहिए। उसमें भी उस समाज के जिस हिस्से की या वर्ग की की और समाज की उपेक्षा हो रही है, उसी को हमारी अधिक-से-अधिक मदद पहुंचनी चाहिए। इच्छा-पत्र बनाते इस दृष्टि को प्रधानता मिलती चाहिए।

इस युगधर्म की सोचते समय अपनी जाति, अपना वर्ग या अपने धर्म की मर्यादा या संकुचितता नहीं रखनी चाहिए।

सरकार या राज्य-संस्था सारे समाज का प्रतिनिधि होने का दावा करती है। लेकिन राज्य-संस्था अभी तक इतनी विकसित नहीं हुई कि नैतिक या आध्यात्मिक आदर्शों को समझ सके या न्याय या कुशलतापूर्वक उसका पालन कर सके। हमारे देश के मध्यकालीन राजा लोग और राज-घराने के इतर स्त्री-पुरुष भी अपने दान-धर्म की व्यवस्था अपने राजतन्त्र के हाथ में न सौंपकर कोई अलग व्यवस्था करते थे। आजकल का जमाना सरकारी तन्त्र के प्रति असंतोष धारण करते हुए भी अपने सब काम उसी के जरिये करवाना चाहता है। बेहतर तो यह होगा कि जिस तरह साम्प्रदायिक तंगदिली से ऊबकर लोगों ने धर्म-संस्था ही अप्रतिष्ठित की, उसी तरह राजसंस्था की प्रतिष्ठा भी अब कम करके राजसत्ता से भिन्न ऐसा कोई नैतिक तंत्र हम खड़ा करें और उससे अपनी स्थायी काम करवायें।

☐

मृत्यु के बाद जिस चीज की कुछ-न-कुछ व्यवस्था तुरंत

करनी ही पड़ती है, वह है मरने वाले का शरीर। दुनिया के सब देशों में सबकी व्यवस्था धार्मिक रूढ़ि के अनुसार की जाती है। शरीर को जमीन में गाड़ना, समुद्र आदि जलाशय में फेंक देना, खाने के लिए पक्षी आदि प्राणियों के सुपुर्द करना या अग्नि-संस्कार द्वारा फूंक देना—ये हैं सामान्य रूढ़ प्रकार। आजकल कोयले या बिजली के जरिये मुर्दे जलाने की भट्टियां भी बनाई जाती हैं।

मैं मानता हूं कि शरीर को फूंक देने का रिवाज सबसे अच्छा है। मरने के बाद प्रेत की व्यवस्था कैसे की जाय, यह सवाल मरने वाले का इतना नहीं, जितना पीछे रहने वाले जिन्दा लोगों का है और वह भी प्रधानतया सामाजिक स्वास्थ्य और आरोग्य का है। मेरे खयाल से शव के अंतिम संस्कार के साथ धार्मिक विधि को जोड़ देना आवश्यक नहीं होना चाहिए। प्रेतात्मा कब्र के नीचे सोती है और कयामत के दिन ऐसे सब जीव अपना-अपना शरीर फिर से ओढ़कर आते हैं, ऐसी कुछ मान्यता के कारण कई धर्म-सम्प्रदायों के लोग शव को फूंक देना पसन्द नहीं करते। कब्रिस्तान में मुर्दे सड़ जाते हैं और उनकी मिट्टी हो जाती है, इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

मैं मानता हूं कि सेवाधर्मी व्यक्ति को चाहिए कि मृत्यु के बाद वह अपना शरीर, वैद्य, डाक्टर आदि लोगों को प्रयोग के लिए दे दे। मस्तिष्क, हृदय, कलेजा, फेफड़े आदि सब अवयवों को प्रयोग के लिए दे देना, यह शरीर का सबसे अच्छा उपयोग है। ऐसा उपयोग पूरा होने के बाद अग्नि-संस्कार कर दिया जाय।

शव को चार आदमी उठाकर ले जायं या खास गाड़ी में डालकर ले जायं, यह सवाल महत्व का नहीं है। गाड़ी में डाल कर ले जाना अच्छा है—देखने के लिए भी और सहूलियत की

दृष्टि से भी। लेकिन हर जगह और खासकर गांवों में और जंगलों में ऐसी सहूलियत मिलना आसान नहीं है। लोगों को प्राचीन या प्राथमिक पद्धति का परिचय होना भी आवश्यक है। जिस तरह वन-भोजनों में हम कम-से-कम और बिलकुल प्राकृतिक साधनों से रसोई बनाते हैं, उसी तरह हरेक स्वाभाविक और सार्वभौम क्रिया के प्राथमिक प्रकार से भी मनुष्य को परिचित रहना चाहिए।

मार्च, १९५२

२ :: मरणोत्तर की सेवा

डा० भारतन कुमारप्पा की इच्छा थी और उनके परिवार के लोग भी इसमें सहमत हुए कि उनकी मृत्यु के बाद उनके शरीर को दफन करने की अपेक्षा उसका अग्नि-संस्कार किया जाय। ईसाई धर्म में दफन का ही रिवाज है, लेकिन आजकल चन्द लोग अग्नि-संस्कार ज्यादा पसन्द करते हैं।

हमारे देश में अक्सर छोटे बच्चों को और संन्यासियों को दफन किया जाता है। बाकी के लोगों के लिए हरेक जाति का अपना रिवाज अलग होता है। जमीन में दफनाना, दाहक्रिया द्वारा शरीर को भस्मशेष करना अथवा समुद्र आदि जलाशय में छोड़ देना, ऐसे तीन रिवाज हैं। जलाशय में मछलियों के लिए शरीर छोड़ देने से, शरीर का सदुपयोग तो होता है, लेकिन पानी बिगड़ जाता है, शरीर सड़कर रोग फैलाता है, ये दोष हैं। उससे तो जमीन में दफन करना कहीं अच्छा है, लेकिन सबसे अच्छा तरीका अग्निदाह का ही है।

जब श्री धर्मानन्द कोसाम्बी ने अपने शरीर के बारे में गांधीजी की सलाह पूछते हुए कहा कि अग्निदाह में अधिक खर्चा

होता है, दफन करने में कम, तब जवाब में गांधीजी ने लिखा, "वैज्ञानिक ढंग से अगर दफन किया जाय तो उसका खर्चा अधिक ही होगा।

रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द संन्यासी होते हुए भी उन्होंने अपने लिए अग्नि-संस्कार ही पसन्द किया।

आजकल यूरोप में कहीं-कहीं शवदहन के लिए एक भट्टी खड़ी कर देते हैं, जिसके अन्दर शरीर को अग्निसात करने के बाद शरीर का जो भस्म रह जाता है, वह किसी बर्तन में रख देते हैं। ऐसे बर्तन को वहां 'उर्न' कहते हैं। यहाँ की भट्टी में शरीर के भस्म के साथ लकड़ी या उपले की राख मिलती नहीं।

हमारे देश में हमारे पुरखाओं ने शव-दहन-विधि को, जहां तक हो सके, सस्ता और सर्वमान्य बनाया है। कम-से-कम दहन-क्रिया तो सादी, सस्ती और कारगर बनाई है। अंतिम क्रिया में गरीब और अमीर का भेद दूर किया है और समाज को इस बारे में उसका कर्तव्य सिखाया है।

मृत शरीर को उठा ले जाने का काम समाज के सब लोग करते हैं। अर्थी भी सस्ती-से-सस्ती होती है। गांव में जो चीज आसानी से मिलती है, उसी से अर्थी बनाने का आसान तरीका लोगों ने ढूंढ़ निकाला है।

मृत शरीर को जलाने का तरीका भी हर जगह आसान-से-आसान बनाया है। नदी किनारे का एक ढंग, जहां लकड़ी बहुत मिलती है, वहां दूसरा ढंग; जहां लकड़ियां मिलती ही नहीं, वहां उपले काम में लाकर शरीर जलाते हैं। उसके लिए शरीर का सिर से पांव तक लम्बा रहना अनुकूल नहीं है, इसलिए दोनों हाथ छाती पर लेते हैं और पांव का करीब पद्मासन बनाते हैं। इस तरह से चिता गोल बन सकती है।

ईंधन नीचे कितना हो, ऊपर कितना हो, यह निश्चित होता

है। कपूर, घी, चन्दन आदि ज्वालादायी और सुगन्धित द्रव्य का भी इस्तेमाल होता है। चिता बनाने का काम इतना सहज होता है कि हरएक आदमी एक दफे देखने पर उसकी खूबियां समझ लेता है। चिता में हवा अपना काम करे, इसकी भी गुंजाइश रहती है।

इस तरह बिलकुल प्राथमिक (प्रिमीटिव) ढंग से आसान तरीका सर्वमान्य बनाने से वह एक विशिष्ट संस्कृति का रूप धारण कर लेता है।

खुले मैदान में आग जलाना आसान नहीं होता, इसलिए घर से अग्नि ले जाने की प्रथा भी निश्चित हो चुकी है।

मरण से कोई मुक्त नहीं है। हरेक को मरना हो है और उसके शव की कुछ-न-कुछ व्यवस्था समाज को करनी ही है। तब उसका तरीका सर्वमान्य, सर्वसुलभ और सस्ता होना ही चाहिए। यह सारी दृष्टि देखकर पूर्वजों के अनुभव की और बुद्धिमानी की कदर किये बिना रहा नहीं जाता, लेकिन...

संस्कृति की प्रगति के साथ 'लेकिन' लाना ही पड़ता है, खासकर के छोटे-बड़े शहरों में, जहां स्मशान घाट की जगह मुकर्रर है, रोज-रोज कोई-न-कोई मरता ही है, मृत शरीर ले जाने का और जलाने या दफन करने का स्थायी प्रबन्ध और वह भी सुव्यवस्थित होना ही चाहिए।

हमारी अर्थी कम खर्चे की होती है सही। उसका बनाना भी आसान है और अर्थी या कफन मृतक के साथ नष्ट करने का रिवाज है—और कुछ हद तक वह अच्छा भी है—अर्थी सस्ती तो होनी ही चाहिए। कहीं-कहीं मृतक का मुख खुला रखने का रिवाज रहता है, यह अच्छा नहीं है। छोटे-छोटे बच्चे रास्ते पर से जाते डरते हैं। मृतक का दर्शन इतना अच्छा भी नहीं रहता है। साधारण नियम यही हो कि मनुष्य के मरने के बाद दर्शन

का आग्रह नहीं रहना चाहिए।

दर्शन के आग्रह के पीछे धोखा टालने का एक उद्देश्य रहता है। किसी का मुर्दा दूसरे किसी के नाम दफन किया या जलाया और असली आदमी को कहीं छुपा दिया, ऐसे किस्से बनते आए हैं। इसलिए भी दर्शन का आग्रह रक्खा जाता है। यह सब अर्थी उठाने के पहले हो जाय तो अच्छा। रास्ते पर मृतक का शरीर बन्द रहे, यही अच्छा है।

अर्थी कंधे पर उठाने का रिवाज बहुत प्राचीन है। मृतक के प्रति आदर दिखाने के लिए कंधा दिया जाता है। लेकिन जहां रास्ते बनाये गए हैं और गाड़ी का प्रबन्ध हो सकता है, वहां अर्थी कंधे पर उठाने का रिवाज छोड़ देना चाहिए, साइकिल के चक्र को काम में लेकर जिस तरह फेरीवाले अपनी गाड़ी बनाते हैं, उसी तरह कोई प्रबन्ध किया जांय तो वह अच्छा है।

राजकोट के किसी एक महाशय ने इस बारे में अच्छा आन्दोलन चलाया था। लेकिन उस आन्दोलन में मर्यादा न रहने से उसका असर बढ़ा नहीं।

□

जहां शव के जलाने के लिए उपले काम में लाये जाते हैं, वहां पुराने रिवाज में ज्यादा सुधार के लिए अवकाश नहीं है। उपले इधर-उधर गिर न जायं, इसके लिए दोनों या चारों तरफ लोहे की जाली या छेदवाली चद्दरें काम में लेने से सब सुलभ हो जायगा।

जहां लकड़ी काम में लाते हैं, वहां भी चारों ओर अगर लोहे की चद्दरें या जालियां रक्खी जायं तो चिता के गिर जाने का भय नहीं रहता। लकड़ियां काटकर ठीक आकार की बना कर तैयार रखनी चाहिए। आजकल का ढंग बिल्कुल अच्छा नहीं है। शीघ्र ज्वालाग्राही पदार्थों में कपूर या घी का व्यवहार

अनावश्यक है। आदर दिखाने के लिए भी घी जलाना अनुचित होगा। तरह-तरह के तेल तो मिलते ही हैं। घासलेट भी है और लोबान जैसे सस्ते धूप भी मिलते हैं।

स्मशान जाने-आने का रास्ता स्वच्छ और साफ रहना चाहिए। स्मशान के अन्दर बैठने के लिए छाया की जगह हो। जो दुःखी लोग आपस में बातें करना नहीं चाहते, उनके लिए कुछ उचित साहित्य पढ़ने के लिए वहां रक्खा जाय। कुछ अच्छे चरित्र-ग्रन्थ भी रक्खे जायं। जो लोग नहाना चाहते हैं, उनके लिए भी कपड़े रखने का, बदलने का अलग कमरा बनाया जाय। फूल के पेड़ और छाया के पेड़ जगह-जगह हों।

अगर लोग मान जायं तो अन्तिम क्रिया एक-सी हो। हरेक धर्म का अलग-अलग स्मशान बनाने का रिवाज आजतक चला, अब तो राष्ट्र की ओर से सामान्य नियम बनाये जायं और सब लोग उसी का पालन करें, यही अच्छा रिवाज होगा। हर जगह दो ही स्मशान हों। एक जगह दफन करने का और दूसरी जगह अग्निदाह करने का।

जितने भी लोग मरें, उनके लिए स्थायी कब्र बनाकर रखने का रिवाज हर जगह आसान नहीं है। कुछ दिन के लिए मृतक के लिए कुछ जगह रोकना ठीक होगा। बाद में मिट्टी के साथ मिट्टी मिल गई और जगह का नामोनिशान न रहा, यही अच्छा तरीका होगा। हरेक व्यक्ति का जन्म-स्थान और मृत्युस्थान और कब्रिस्तान अगर हम सदा के लिए बनाकर रखने लगे तो स्थान का प्रश्न उठ खड़ा होगा। जिन्दे लोगों के लिए रहने की जगह नहीं रहेगी और कुछ काल के बाद उस स्थान की हिफाजत भी नहीं हो सकती। आदर दिखाने के लिए जो प्रबन्ध किया गया, वही अनादर का रूप धारण करेगा। इसलिए हरेक कब्रिस्तान कुछ समय के बाद बन्द ही किया जाय और दस-बीस वर्ष के बाद उस स्थान का खेती के लिए या बगीचे के लिए उपयोग

किया जाय और कब्रिस्तान किसी दूसरे स्थान पर हटाया जाय। ऐसा परिवर्तन सैकड़ों बरसों के बाद कुदरती तौर पर होता ही है, लेकिन मियाद बांधकर विचारपूर्वक सामाजिक सम्मति से नियम बनाना अच्छा है।

जुलाई, १९५७

३ :: नदी-किनारे स्मशान

मनुष्य की देह जलाने के लिए हम लोग नदी का किनारा पसंद करते हैं। खुली जगह होती है। शव-दहन के पश्चात राख ठण्डी करके उसे पानी में फेंक सकते हैं, ताकि पवित्र या अपवित्र हड्डियां मनुष्य के पांव के नीचे न आ जायं। नदी के जल में सब चीजें बह जाती हैं। आहिस्ता-आहिस्ता नदी की मिट्टी समुद्र तक पहुंच जाती है और समुद्र तो पवित्र-से-पवित्र स्थान है—'सागरे सर्व तीर्थानि।'

किसी ने सवाल उठाया कि नदी का पानी तो हम पीने के लिए भी लेते हैं। जले हुए शरीर की हड्डियां और राख नदी के पानी में बहाना कहां तक अच्छा है? जवाब में किसी ने कहा, "अजी, आपने बनारस जाकर नहीं देखा। वहां तो आधा जला हुआ मुर्दा भी पवित्र गंगाजी के पवित्र जल में फेंक दिया जाता है। ऐसा मुर्दा जब पानी में तैरने लगता है, तब आंखों से देखा नहीं जाता। पेट में कुछ-का-कुछ हो जाता है।"

अंग्रेजों ने देखा कि अगर भारतीयों के 'धार्मिक' रिवाजों में सरकार दखल नहीं देती है तो लोग ऐसी सरकार को खुशी से अपनी निष्ठा अर्पण करते हैं, फिर उनकी नीति सारे देश को लूटने की क्यों न हो। भारत के लोग अपना हित और स्वार्थ नहीं समझते हैं। केवल भावनाप्रधान होते हैं। उनकी

भावना संभालकर उन्हें लूटना आसान है। जो हो, भारत की अंग्रेज सरकार ने हमारे धार्मिक रिवाज में हस्तक्षेप न करने की जो नीति चलाई, वह परदेशी सरकार के लिए शुद्ध नीति ही थी, हेतु कुछ भी हो।

लेकिन अब स्वराज्य है। स्वकीयों का राज्य है। देश की बागडोर जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में है। अब हम अपने 'धार्मिक' रिवाजों में भी सुधार कर सकते हैं। पुराने स्मृति-ग्रन्थ हमारे लिए पूज्य हैं, लेकिन उनका उपयोग हम पीनल कोड के तौर पर नहीं कर सकते। नियमों में भी एकता नहीं है। जहां जो रूढ़ि चलती है, उसी का महात्म्य होता है। रूढ़ि के पीछे-पीछे कभी-कभी शास्त्र-वचन बनाये जाते हैं। हमेशा रूढ़ि के लिए शास्त्र का आधार होता ही है, ऐसी बात नहीं है। रूढ़ि लोकमानस से पैदा होती है। लोकमानस बदलने पर रूढ़ि बदल सकती है, बदलनी चाहिए। शवदहन के बाद प्रेत की जली हुई हड्डियां और राख नजदीक के तालाब में विसर्जन करने का रिवाज कहां तक चलावें, समाजशास्त्र समझने वाले, आरोग्यशास्त्र समझने वाले, लोकहित समझने वाले लोकनेताओं को तय करना चाहिए।

मैंने अपने कई रिश्तेदारों की और स्नेहियों की अस्थियों का विसर्जन प्रयाग में या हरिद्वार में किया है। महात्माजी की अस्थियों का और चिताभस्म का विसर्जन देश के अनेक पवित्र स्थानों में किया गया, उसे मैंने पसंद किया है। लेकिन जलाशयों में विसर्जन करना कहां तक मुनासिब है, यह सवाल जब श्री देवदास गांधी ने उठाया, तब मैं भी सोच में पड़ा।

मुझे मालूम है कि सुदूर दक्षिण में, भारत के पश्चिम किनारे पर गोकर्ण-महाबलेश्वर नाम का एक तीर्थ स्थान है, जिसका महात्म्य पुराणों में काशी, बनारस से कम नहीं बताया

है। वहां के लोगों ने जलाये हुए शरीर की अस्थियां विसर्जन करने के लिए एक अलग ही तालाब पसंद किया है। उस तालाब के पानी का दूसरा कोई उपयोग नहीं होता। स्थानिक लोग कहते हैं कि उस तालाब के पानी की खूबी यह है कि उसमें छोड़ी हुई अस्थियां थोड़े ही दिनों में गल जाती हैं।

कुछ भी हो, यह रिवाज मुझे अच्छा लगा। अस्थियों के विसर्जन के लिए एक अलग ही तालाब मुकर्रर कर रखना और उसके पानी का दूसरा उपयोग न करना, अच्छा ही हैं।

जब अधिकांश दुनिया शव को जमीन में गहरा गड्ढा खोद-कर डालती आई है, तब जलाये हुए मुर्दों की अस्थियां और चिताभस्म एक गड्ढे में डालकर उस पर एक पेड़ लगाने का रिवाज क्यों न चलाया जाय? हड्डी का और भस्म का खाद पेड़ों के लिए अच्छा है और मृत व्यक्ति के प्रति आदर दिखाने के लिए पेड़ की हिफाजत करना सबसे अच्छा और अनुकूल है।

नदी के किनारे प्रेत-दहन करने का रिवाज इसलिए पसन्द किया गया था कि हर साल नदी में बाढ़ आकर सारी जगह आप-ही-आप साफ हो जाती है और मृत व्यक्तियों के नाम कब्रिस्तान के रूप में कीमती जमीन रोकने की भी बात नहीं उठती। हरेक मरे हुए व्यक्ति के पीछे कब्रिस्तान के रूप में जमीन रोकी जाय तो पृथ्वी का सारा क्षेत्र मरे हुए लोगों की ही मिल्कियत हो जायगी। न खेती के लिए, न मनुष्य-बस्ती के लिए काफी जगह रह सकेगी।

लोकोत्तर पूज्य व्यक्तियों की समाधि की बात अलग है। सामान्य मनुष्य के नाम एक सूई जितनी जमीन भी रोकी जाय, यह योग्य नहीं है। नदी का किनारा तो बढ़ती हुई आबादी के दिनों में सब तरह की खेती के लिए ही काम आना चाहिए।

जमाना बदल गया है, परिस्थिति बदल गई है। सामाजिक

आदर्श बदल रहे हैं। ऐसे दिनों में प्रथम तो हरेक सवाल का जाहिरा तौर पर ऊहापोह होना चाहिए। काफी लोकमत तैयार होने पर और वैज्ञानिक तथा सामाजिक ढंग से सोचा जाने पर समाज की ओर से या सरकार की ओर से विशेषज्ञों की समिति नियुक्त होकर कुछ-न-कुछ निर्णय पर आना चाहिए। प्रेतदहन स्मशान और कब्रिस्तान के सारे सवाल को जिस तरह हमारे पुरखाओं ने गहराई में उतरकर सोचा था, उसी तरह फिर-से सोचने की लोकमानस की तैयारी करनी चाहिए।

जून, १९५८

४ :: 'मृतात्मा को शान्ति'

किसी व्यक्ति की मृत्यु का समाचार जब अखबार में देते हैं या उसके बारे में शोक-प्रस्ताव करते हैं, तब अन्त में आता है—'ईश्वर मृत व्यक्ति की आत्मा को शान्ति बख्शे।' कभी-कभी लिखते हैं—'ईश्वर मृतात्मा को शान्ति दे।'

जिन लोगों ने शेक्सपियर का नाटक 'हैमलेट' देखा या पढ़ा है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि पश्चिम के लोगों की मान्यता है कि मृत व्यक्ति अपनी-अपनी कब्र के नीचे दिनभर सोते हैं, रात होते ही उनके भूत कब्र से बाहर आकर इधर-उधर घूमते हैं। सुबह होते ही, मुर्गे की आवाज सुनते ही, उनको दौड़कर वापस जाना पड़ता है और कब्रिस्तान में सोना पड़ता है। मृत व्यक्ति इस तरह कयामत के दिन तक बेचैन रहते हैं। अगर हम उनकी शान्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करतें हैं तो मृत व्यक्ति को उसका फायदा पहुंचता है। स्वाभाविक है कि वहां के लोग मृत व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं और अनुरूप प्रस्ताव भी करते हैं।

लेकिन उनके रिवाज का बिना सोचे हम अन्धानुकरण करके ऐसा क्यों लिखें ?

सबसे पहले 'मृतात्मा' शब्द पर हमारी आपत्ति है। जो लोग आत्मा को अमर मानते हैं, वे 'मृतात्मा' की बात कैसे कर सकते हैं ? 'मृत व्यक्ति की आत्मा' बराबर 'मृतात्मा'—ऐसा अर्थ करके 'मृतात्मा' जैसे सामाजिक शब्द का बचाव हो सकता है, लेकिन 'मृतात्मा' शब्द कान को अच्छा नहीं लगता। मृत व्यक्ति के शव को 'प्रेत' कहते हैं। यह भी मूल अर्थ की दृष्टि से गलत है। 'प्रेत' के मानी है—शरीर छोड़कर गया हुआ जीव। लेकिन 'शव' के लिए 'प्रेत' शब्द रूढ़ हो गया है।

हम मानते हैं कि मनुष्य के मरने के बाद उसका जीव और उसके संस्कारों का समूह शरीर छोड़कर चला जाता है और अपने लिए दूसरा उचित शरीर ढूंढ़ लेता है और उस नये शरीर के द्वारा कर्म करता है और भोग भुगतता है। 'स्वकर्म फल निर्दिष्ट', जो भी नई योनि मनुष्य को मिले, उसमें वह नई जीव-यात्रा शुरू करता है। कब्रिस्तान में सोते रहने के लिए उसके पास अवकाश नहीं होता। मनुष्य का जीव सुख-दुःख से व्याप्त हो सकता है, आत्मा के लिए हमेशा ही स्वास्थ्य-ही-स्वास्थ्य है। वह कभी अस्वस्थ नहीं होता। इसलिए उनके प्रात्यर्थ शान्ति की प्रार्थना अनावश्यक है।

लोक-व्यवहार में यह सब परलोक की बातें हम क्यों लायें? हरएक व्यक्ति अपनी मान्यता के अनुसार जो-कुछ भी सोचता है, सोचे; लेकिन सामाजिक रिवाजों में ऐसी बातों को नहीं छेड़ें, जो सर्वमान्य नहीं हैं।

असल बात यह है कि मृत व्यक्ति का जीव अपने कर्मानुसार कौनसी योनि में जाता है, उस बात को भी हमें नहीं सोचना है। मनुष्य के मरने के बाद उसके शरीर का और जीव

का क्या होता है, यह हमारी कल्पना का प्रधान विषय नहीं है। मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके भले-बुरे कार्यों के द्वारा उसका व्यक्तित्व हमारी स्मृति में दीर्घकाल तक रहता है। उस स्मृति में रहे हुए व्यक्तित्व के प्रति हम अपनी श्रद्धा व्यक्त करें, यही 'प्रेत' के व्यक्तित्व का श्राद्ध है।

जैसा कि पहले बताया गया, मृत्यु के बाद जीव को जो दशा प्राप्त होती है, उस दशा को या स्थिति को 'सांपराय' कहते हैं। 'सांपराय' को समझने की कोशिश प्राचीन काल से अनेकों ने की है। उस बात को हमारे लोक-व्यवहार में लाने की जरूरत नहीं। सामाजिक व्यक्ति अपनी मृत्यु के बाद अपनी सेवा के द्वारा लोगों की स्मृति में दीर्घकाल तक जीवित रहे, इस उद्देश्य से उसके मरणोत्तर जीवन का हम स्मृतिजल से, श्रद्धांजलि से, सिंचन करें, यही है हमारा कर्तव्य। अगर मृत व्यक्ति को ऐसी श्रद्धांजलि का ज्ञान होता हो तो उसे अवश्य ही तृप्ति मिलती होगी। इसलिए श्रद्धांजलि अर्पण करने की क्रिया को 'तर्पण' कहते हैं। 'श्राद्ध' और 'तर्पण' न आत्मा का होता है, न जीव का। वह होता है केवल मरणोत्तर हमारी स्मृति में चालू रहने वाले व्यक्तित्व का।

इसीलिए मृत्यु के समाचार प्रकाशित करने पर हम जरूर लिख सकते हैं कि मृत व्यक्ति की सेवाएं हम दीर्घकाल तक न भूलें, हम उनसे नित्य नई प्रेरणा प्राप्त करें और आदरयुक्त स्मरण के द्वारा हम मृत व्यक्ति के प्रति अपना आदर और अपनी कृतज्ञता व्यक्त करें।

हम यह भी कह सकते हैं कि मृत व्यक्ति के चले जाने से समाज में एक उत्तम सेवक की या प्रेरक की जो खाई पैदा हुई है, उसे पूर्ण करने के लिए पुरुषार्थ करते रहना ही हमारा प्रधान कर्तव्य है और यही मृत व्यक्ति का सच्चा तर्पण है।

स्वनामधन्य ठक्करबापा की मृत्यु के बाद उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने वाले प्रस्ताव का मैंने विरोध किया था। मैंने कहा था कि एक व्यक्ति ने अपनी सारी शक्ति समाज के उपेक्षितों की सेवा करने में लगा दी, शरीर में जितनी भी शारीरिक, मानसिक या हार्दिक शक्ति थी, सब-की-सब सेवा में अर्पण की। वृद्धावस्था के कारण जब शरीर तनिक भी सेवा देने में असमर्थ हुआ, तभी उनको आराम लेना पड़ा और ईश्वर ने करुणा-भाव से उनको शरीर से मुक्त किया। ऐसी घटना में शोक के लिए अवकाश ही कहां है? किस बात पर हम शोक करें? हम उनसे प्रेरणा पा लें, उनके प्रति कृतज्ञता और आदर व्यक्त करें और भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसे जीवन-दानियों की परम्परा अबाधित रहे, बढ़ती जाय और उनका अनुकरण करने का हमें बल मिले।

मृत्यु का प्रसंग गम्भीर होता है। उस समय हमारे मन और हृदय की जाग्रति विशेष होनी चाहिए। दोनों को बधिर करके एक रूढ़ रस्म को बिना सोचे हम अदा करते जायं, यह मनुष्य-हृदय को और मनुष्य-बुद्धि को शोभा नहीं देता। हम जो-कुछ भी करें, विचारपूर्वक और विवेकपूर्वक करें। मृत्यु भी मनुष्य-जाति के लिए ईश्वर की एक अद्‌भुत देन है। उससे हमें पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। हृदय-जाग्रति के बिना यह असंभव है। ईश्वर हमें सदा के लिए हृदय-जाग्रति बख्शे।

मई, १९५६

□□

मण्डल का

निबन्ध साहित्य

□□